हिन्दी नीति-काव्य-धारा

डॉ० भोलानाथ तिवारी

किताब महल

प्रथम संस्करण : १९८४

मुख्य वितरक :

१. किताब महल एजेन्सीज
   ८४, के० पी० कक्कड़ रोड, इलाहाबाद-३
२. किताब महल डिस्ट्रीब्यूटर्स,
   २८, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-२
३. किताब महल एजेन्सीज,
   अशोक राजपथ, पटना-४
४. किताब महल एजेन्सीज,
   मनोज बिल्डिंग, सेण्ट्रल बाजार रोड, रामदास पेठ, नागपुर-१०

मूल्य : ३०·००

प्रकाशक : किताब महल, १५ थार्नहिल रोड, इलाहाबाद
मुद्रक : न्यू एरा प्रेस, ८, नवाब यूसुफ रोड, इलाहाबाद

समर्पण

प्रिय अनुज
त्रिभुवन नाथ तिवारी
के लिए
जिसे नीति की बातें
बहुत पसंद हैं

डॉ० भोलानाथ तिवारी

तिवारी जी का जन्म गाज़ीपुर ज़िले के हुसैन गाँव में १९२३ में हुआ था। यों आप रहनेवाले उसी ज़िले के आरीपुर के हैं। आपने बहुत विकट परिस्थितियों में संघर्ष करते हुए कुली, चपरासी, दफ्तरी, क्लर्क, टाइपिस्ट, एकाउंटेंट आदि का काम करते हुए पढ़ते-छोड़ते इलाहाबाद से एम० ए०, पी-एच० डी० तथा बाद में डी० लिट्० किया। १९४२ में 'भारत छोड़ो' आंदोलन में गांधी जी के आह्वान पर डॉ० तिवारी भी कूद पड़े थे तथा इनके सीने को चीरती हुई गोरे सिपाहियों की दो गोलियाँ पार निकल गई थीं। मृत्यु और जीवन के उस संघर्ष में किसी तरह जीवन की विजय हो सकी थी। कुछ वर्षों तक आप सोवियत संघ में हिन्दी भाषा और साहित्य के विज़िटिंग प्रोफेसर रहे तथा कुछ समय तक इंग्लैंड में भी रहे। इस समय आप दिल्ली विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग में प्रोफेसर हैं। तिवारी जी ने भाषाविज्ञान, कोश, अनुवादकोश, भाषाशिक्षण, शैली-विज्ञान तथा साहित्य से संबद्ध लगभग अस्सी पुस्तकें लिखी हैं। संपर्क सूत्र : ई ४/२३, माडल टाउन, दिल्ली-९.

प्रस्तुत पुस्तक

हमारे दैनिक जीवन में नीति का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी की प्राचीन, मध्यकालीन तथा आधुनिककालीन प्रतिनिधि नीति-कविताओं का पहला प्रतिनिधि संग्रह है। प्रारंभ की भूमिका में 'नीति' पर विचार करते हुए भारत में नीति-काव्य की परम्परा की दृष्टि से संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश पर दृष्टि दौड़ाते हुए, हिन्दी नीतिकाव्य पर संक्षेप में परम्परागत प्रेरणा युगीन प्रभाव, शैली, छंद तथा प्रकार आदि की दृष्टि से विचार किया गया है। उसके बाद हिन्दी की प्रतिनिधि नीति-छंदों का संकलन है।

पुस्तक हिन्दी साहित्य में रुचि रखने वाले पाठकों तथा अध्येताओं के लिए तो उपयोगी है ही, व्यावहारिक दृष्टि से सर्व-सामान्य के लिए भी उपादेय है।

प्राक्कथन

हिन्दी नीति-काव्य पर मैंने अपनी डॉक्टरेट के लिए काम किया था, जो 'हिन्दी नीति-काव्य' के नाम से बहुत पहले प्रकाशित हुआ था। तभी से इच्छा थी हिन्दी की नीति-कविताओं का एक प्रतिनिधि संग्रह तैयार करने की। मुझे प्रसन्नता है कि किताब महल के साहित्य-सलाहकार श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी के स्नेह-सिक्त आग्रह ने वह कार्य मुझसे करा ही लिया, नहीं तो अन्य कामों की व्यस्तता के कारण वह मेरी इच्छा मात्र इच्छा ही रही जा रही थी।

इस संग्रह में पाँच प्रकार की नीति-कविताएँ हैं। पहला प्रकार तो उन कवियों की कविताओं का है जो मूलतः और मुख्यतः नीति के ही कवि हैं—जैसे रहीम, वृंद, दीनदयाल, गिरिधर आदि। दूसरा उन कवियों की कविताओं का है जो मूलतः भक्त-कवि हैं, किन्तु, उनकी कविताओं में नीति के छंद भी काफ़ी संख्या में हैं। ऐसे कवियों में कबीर, तुलसी आदि हैं। तीसरे प्रकार में बिहारी आदि शृंगारी कवियों के नीति-छंद आते हैं। चौथे में लोक-कवियों के नीति छंदों का हो सकता है, फ़िलहाल ऐसे कवियों में घाघ को ही लिया गया है। अंतिम प्रकार उन कवियों की कविताओं का है, जो मूलतः संत, सूफी, राम-भक्त कृष्ण-भक्त, शृंगारी या अन्य नीति-इतर विषयों के हैं, किन्तु जिनमें कुछ नीति के छंद भी हैं। पहले इरादा था इन सभी को अलग-अलग वर्ग बनाकर रखने का। फिर यह उचित लगा कि प्रथम चार प्रकार को रचयिताओं के काल-क्रमानुसार रख दिया जाए तथा अंतिम वर्ग को प्रकीर्णक रूप में रखा जाए। प्रस्तुत संग्रह में यही क्रम अपनाया गया है।

जहाँ तक हिन्दी के नीति-कवियों और कविताओं के विस्तृत विवेचन की बात है कुछ मोटी-मोटी बातें भूमिका में दे दी गई हैं। इनके बारे में विस्तृत जानकारी के लिए प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक की पुस्तक 'हिन्दी नीति-काव्य' देखी जा सकती है।

इस संग्रह के तैयार करने में बिटिया डॉ० किरण बाला ने मेरी बहुत सहायता की है।

भोलानाथ तिवारी

प्रकाशकीय

मनुष्य के दैनिक जीवन में जब धर्म-बुद्धि कुंठाग्रस्त होकर किंकर्त्तव्य विमूढ़ बन जाती है और दर्शन का आलोक चौंधियाया-सा धुँधला दिखाई देने लगता है तो नीति का आश्रय लेना उसके लिए अनिवार्य हो जाता है। नीति का अर्थ और उद्देश्य मानव-जीवन का गतिरोध दूर कर उसे अग्रसर बनाना है। हमारे साहित्य में इसके प्रमाण बिखरे पड़े हैं। मानव सभ्यता के आदि काल से ही यह प्रक्रिया प्रचलित रहती आयी है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि हमारे जातीय जीवन में जब कभी जटिलता उत्पन्न हुई है तभी नीति की आवश्यकता अधिक उजागर दिखाई दी है। 'महाभारत' को तो नीतिशास्त्र का विश्व-कोश ठहराया जा सकता है। नीति समाज का मार्ग-दर्शन कराती है। व्यक्तिगत जीवन में जो नीति है वह राज्य-व्यवस्था से जुड़कर राजनीति बन जाती है। देश-काल के भेद से इसकी सन्दर्भगत विशेषता में भी संकोच विस्तार आ जाता है।

नीति की दृष्टि से हिन्दी साहित्य का मध्यकाल उसके आदि काल से अधिक समृद्ध है। मध्यकाल हमारे राष्ट्रीय जीवन का परीक्षा-काल रहा है। भारतीय मनीषा इस परीक्षाग्नि में तप कर सोने की भाँति खरी उतरी है। दासता-पाश से आबद्ध होकर भी उसने अपनी सांस्कृतिक चेतना को उद्बुद्ध रखा है और यथासंभव उसे धूमिल-सा मलिन होने से बचा रखा है। इसीलिए वह बर्बर संघर्षों के बीच भी अपनी गौरवशाली परम्परा को जीवित, जागृत और सुरक्षित रख सकी है। हिन्दी साहित्य का मध्यकाल इसका एक ज्वलंत प्रमाण है। उसने सब समय मानवीय स्तर को स्खलित न होने देकर उसे बनाये रखने की चेष्टा की है और इसमें उसे पर्याप्त सफलता भी मिली है। कठिन से कठिन अवसरों पर निम्न स्तरीय नागरिक भी नैतिक आग्रह के प्रति जागरूक रहा है।

आधुनिक कालीन हमारे जीवन और साहित्य में उल्लेखनीय बदलाव आया है। वैज्ञानिक उपलब्धियों के कारण यह स्वाभाविक भी है। हमारा आधुनिक साहित्य भी स्वभावतः उससे प्रभावित हुआ है किन्तु साहित्यकार का नैतिक स्वर आज भी मुखर है। उसकी प्रक्रिया भले ही बदली दिखाई दे किन्तु नैतिकता के प्रति उसकी आस्था एवं आग्रह आज भी अडिग है। भारतीय मेधा की यह विशेषता उसकी सामाजिक चेतना की ही प्रतिध्वनि है जिसे राजनीतिक क्षेत्र में आज भी 'पंचशील' कहकर पूर्ववत् दुहराते हैं।

डॉ० भोलानाथ तिवारी सुप्रसिद्ध भाषाविद् ही नहीं, हिन्दी साहित्य के प्रबुद्ध विद्वान् भी हैं। उन्होंने बड़ी ही तन्मयता और तत्परता से नीतिशास्त्र तथा नीति-काव्य का अध्ययन एवं अवगाहन किया है। प्रस्तुत ग्रंथ द्वारा इस विषय के अनुरागियों का पर्याप्त लाभ होने की आशा है। विश्वास है कि इस विषय के अध्ययन को आगे बढ़ाने में यह मार्ग-दर्शन करने-कराने में सहायक बनेगी।

ऐसे विद्वतापूर्ण उपयोगी पुस्तक को प्रकाशित करते हुए हमें प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

साहित्य सलाहकार

अनुक्रम

भूमिका

हिन्दी में वीर, संत तथा सूफी आदि काव्यधाराओं की भाँति नीति-काव्य की भी एक धारा है जो काव्यत्व की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण न होते हुए भी उपयोगिता की दृष्टि उसका विशेष स्थान है। हिन्दी प्रदेश की जनता अपने रोज़ के व्यवहारों तथा कामों में तुलसी, घाघ तथा गिरिधर आदि नीतिकारों का कितना अधिक उपयोग करती है, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

'नीति' शब्द संस्कृत की 'णीञ्' धातु से बना है जिसका अर्थ है 'ले जाना'। इस प्रकार 'नीति' वह है जो आगे ले जाए। अर्थात्, नीति के सहारे हम अपने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में आगे बढ़ते हैं। वैदिक साहित्य में 'व्यवहार' तथा 'ले जाने वाली' अर्थ में इस शब्द का प्रयोग हुआ है। लौकिक संस्कृत तथा हिन्दी में इस शब्द का प्रयोग राजनीति, कूटनीति, पॉलिसी, उपाय, कार्यविधि, लोक-व्यवहार आदि अर्थों में मिलता है इस प्रकार की बातों का जिस कविता में वर्णन हो, वह 'नीति-काव्य' है।

कहना न होगा कि इस प्रकार की कविता जीवन के लिए है। 'कला कला के लिए' से उसका कोई भी सम्बन्ध या लगाव नहीं है। इसमें उपयोगिता का आधिक्य देखकर ही कुछ लोगों का कहना है कि इसे कविता न कहकर 'पद्य' या 'सूक्ति' और इनके रचयिताओं को 'पद्यकार' या 'सूक्तिकार' कहना चाहिए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी लिखा है—

'चौथा वर्ग नीति के फुटकल पद्य कहने वालों का है। इनको हम कवि कहना ठीक नहीं समझते। ......ऐसी रचना करनेवालों को हम कवि न कहकर सूक्तिकार कहेंगे।'[1]

आगे शुक्ल जी गिरिधर कविराय पर विचार करते हुए कहते हैं—

'........ये कोरे पद्यकार ही कहे जा सकते हैं, सूक्तिकार नहीं।'[2]

इसका अर्थ यह है कि शुक्ल जी नीति-काव्य के 'सूक्ति' और 'पद्य' दो भेद मानते हैं। सूक्ति वह जिसमें दृष्टांत, उदाहरण आदि अलंकारों या शब्द-चमत्कार आदि के कारण कुछ आकर्षण हो तथा जिसमें पाठक या श्रोता को प्रभावित करने की शक्ति अधिक हो, किन्तु 'पद्य' वह जिसमें कोरे तथ्य बिना किसी वक्रता आदि के छंदोबद्ध कर दिए गए हों। शुक्ल जी की दृष्टि में वृंद सूक्तिकार हैं तो गिरिधर पद्यकार। पर, इसके साथ ही शुक्ल

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, सं० १९९९, काशी पृ० २५५
२. वही, पृ० २६०

जी ने रहीम तथा दीनदयाल को कवि माना है तथा उनके नीति-काव्य को काव्य।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि सामान्य विवेचन में नीति की कविता को वे 'पद्य' और 'सूक्ति' कहते हैं, पर कवियों पर विचार करते समय उसे वे काव्य भी मानते हैं। उचित भी यही है। 'नीति' विषय है और किसी भी विषय को लेकर कविता की जा सकती है यदि कविता करने वाला प्रतिभा-सम्पन्न हो। हाँ, एक बात अवश्य है कि नीति की सुन्दर से सुन्दर कविता में भी वह काव्यत्व नहीं मिलता जो रसात्मक काव्य में होता है।

इस आधार पर नीति-काव्य के पद्य, सूक्ति और काव्य ये, तीन भेद किए जा सकते हैं। नीति की रचनाओं में इनमें प्रथम दो के ही प्रायः दर्शन होते हैं। काव्य के अन्तर्गत आने वाले नीति-छन्द बहुत कम ही लिखे गए हैं।[2]

नीति-काव्य यों तो विश्व के प्रायः सभी साहित्यों में मिलता है, पर भारतीय साहित्य इस दृष्टि से अधिक सम्पन्न है। यहाँ का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ ऋग्वेद भी इससे शून्य नहीं है, यद्यपि उनका मुख्य विषय देवताओं की स्तुति है। उसमें दान और सत्य की

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, सं० १९९९, पृ० २४०-४१, ४२७

पश्चिम में भी Didactic Poetry को लेकर पर्याप्त विवाद होता रहा है। इस प्रसंग में दो उद्धरण द्रष्टव्य हैं :

'......is that kind of poetry which aims or seems to aim at instruction as its object, making pleasure entirely subseroient to this...In the poems generally called didactic, the information or instruction given in verse is accompanied with poetic reflections, illustrations episodes etc. It has been disputed whether or not the existence of a kind of poetry, specially entitled to the name didactic consists wth the very nature and object of the poetic art. For it is held that to point out instruction as peculiar object of one kind of poetry, is to over look the aim of all poetry.' (Chamber's Encyclopaedia, Vol III, p. 546, London, 1868)

'It is a matter of question whether didactic poetry really deserves to be ranked along with lyric, epic and dramatic, because either the chief object of the poem is to give instruction on a certain subject, in which case the elevation, invention and freedomof poetry are excluded; or, if this is not the prominent object, then every poem is more or less didactic. If there are any poems really deserving the name, that ought to be called didactic, it is those which veil the purpose of instructions under the universially admitted forms of poetic composition as in the case of Lessing's drama the Nathen the Wise.' (The New Popular Encyclopedia, Vol. IV. p. 376, London, 1905.

२. "नहि परागु नहि मधुर मधु नहि विकास इहि काल, अली कली ही सौं बँध्यो आगे कौन हवाल" नीति-काव्य होता हुआ भी शुद्ध काव्य है। पर ऐसे छन्द कम ही मिलते हैं।

महत्ता, स्त्री की चंचलता तथा कुल-परम्परा का अनुसरण आदि विषयों पर नीतिपूर्ण बातें तथा आख्यायिकाएँ हैं। इसी प्रकार साम, यजुः तथा अथर्व में भी यत्र-तत्र एकता, मधुर वचन, मित्रता, लोभ तथा मातृभूमि-प्रेम आदि से संबद्ध उपदेशात्मक बातें हैं। ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में भी नीतिकथन या उपदेश की यह कड़ी अक्षुण्ण मिलती है। आगे बढ़ने पर यह परम्परा स्मार्त सूत्रों तथा आयुर्वेद और अथर्ववेद के ग्रन्थों से होती हुई लौकिक संस्कृत के महाकाव्य, स्मृति, पुराण, कथा-साहित्य और स्फुट साहित्य आदि धाराओं में मिलती है।

महाकाव्यों के 'वाल्मीकि रामायण' में भी यद्यपि यत्र-तत्र इस विषय के श्लोक काफी संख्या में मिल जाते हैं, तथापि 'महाभारत' इस दृष्टि से सबसे अधिक समृद्ध है। 'धौम्यनीति,' 'विदुरनीति' तथा 'भीष्मनीति' आदि संस्कृत के प्रसिद्ध नीति-ग्रन्थ मूलतः महाभारत के ही अंश हैं।[1] इनके अतिरिक्त भी महाभारत में नीति की सूक्तियाँ तथा कथाएँ यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हैं। अन्य महाकाव्यों में सौंदरानंद, रघुवंश, किरातार्जुनीय तथा नैषध आदि भी नीति की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।

स्मृतियों का तो विषय ही प्रायः नीति है, अतः उनमें आचार, धर्म, राज तथा आपसी व्यवहार सम्बन्धी बहुत-सी बातें आ गई हैं। इस दृष्टि से मनुस्मृति विशेष महत्त्व की है। यों याज्ञवल्क्य आदि अन्यों में भी नीति की बातें पर्याप्त संख्या में हैं। पुराण (जिनकी संख्या १०० से ऊपर है) भी नीति की दृष्टि से पर्याप्त सम्पन्न हैं।

कथा-ग्रन्थों में कुछ तो मनोरंजन मात्र के लिए हैं, पर अन्यों का उद्देश्य ही है राजनीति तथा लोकनीति की शिक्षा देना। 'पंचतंत्र' इस दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें मैत्री, फूट, गुण, धन, मूर्खता, परोपकार सज्जन, दुर्जन, राजा, शत्रु तथा निन्दा आदि बहुत से विषयों पर नीति की बड़ी सुन्दर बातें श्लोकबद्ध हैं। स्फुट साहित्य में ऐसे ग्रन्थों की संख्या सौ से भी ऊपर है जो मूलतः नीति से ही सम्बद्ध हैं। इनमें शुक्र (शुक्रनीति), चाणक्य (चाणक्यनीति), भर्तृहरि (नीतिशतक), धनदराज (नीतिधनदम्), द्याद्विवेद (नीतिमंजरी) तथा कामंदक (कामंदकनीति) के नीति ग्रन्थ तो बहुत ही प्रसिद्ध हैं। इसी वर्ग में अन्योक्ति रूप में लिखे गए नीति-ग्रन्थ भी आते हैं जिनमें वीरेश्वर, मधुसूदन, सोमनाथ, नीलकंठ तथा घनश्याम आदि के अन्योक्तिशतक तथा चन्द्रचूड़ का अन्योक्ति-कंठाभरण अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। सुभाषित ग्रन्थ भी स्फुट साहित्य के ही अन्तर्गत आते हैं जिनमें बहुत से कवियों के छन्द विषयानुसार या यों ही संगृहीत हैं। इनमें अन्य विषयों के साथ प्रायः नीति विषय भी रहते हैं। संस्कृत के सुभाषित ग्रन्थों में 'सुभाषित रत्न भांडागार' 'कवीन्द्र वचन समुच्चय' 'अभिलीषतार्थ चिंतामणि', 'सदूक्ति कर्णामृत', 'सुभाषित रत्नाकर' तथा 'सुभाषित कौस्तुभ' आदि उल्लेख्य हैं।

इस प्रकार नीति की दृष्टि से संस्कृत साहित्य पर्याप्त सम्पन्न है।[2] संस्कृत में नीति की बातें प्रायः पाँच शैलियों में मिलती हैं : (क) **निर्देशात्मक** इस शैली की बातें सामान्य नीति की बातें न होकर व्यक्ति-विशेष के लिए कही गई बातें हैं। वस्तुतः नीति-काव्य की

---

१. पुसाल्कर के अनुसार महाभारत के नीति वाले अंश प्राचीन न होकर बाद के प्रक्षिप्तांश हैं। वे कदाचित् सिकन्दर के आक्रमण के बाद रचे गए। (Studies in Epic and Puranas of India—A. D. Pusalker, p. XXXI, Bombay, 1955)

२. इसी को देखकर विंटरनीत्स ने अपने A History of Indian Literature (प्रथम खण्ड, पृ० २, १९२७) में लिखा है : 'In one department of literature, that of the aphorism (gnomic poetry), the Indians have attained a mastery which has never been gained by any other nation.'

यह प्राथमिक शैली मानी जा सकती है। यही वह बीज है जिसने धीरे-धीरे नीति-काव्य का रूप धारण किया। (ख) **उपदेशात्मक**—व्यक्ति-विशेष के लिए निर्देशित बातें धीरे-धीरे सामान्य उपदेश के रूप में कही जाने लगीं। निर्देश का 'करो' यहाँ 'करना चाहिए' में परिवर्तित हो गया। व्यष्टि के लिए कही जाने वाली बातें समष्टि के लिए कही जाने लगीं। निम्न कोटि के नीति-काव्य में यह शैली मिलती है। (ग) **सूक्त्यात्मक**—उपदेश की प्रभविष्णुता संदिग्ध थी। इसीलिए उपदेश को चुभता या प्रभविष्णु बनाने के लिए सूक्ति-पद्धति का प्रयोग प्रारम्भ किया गया है। वस्तुतः यह काव्यत्व और उपदेश का संधि-स्थान था। (घ) **अन्योक्त्यात्मक**—उपदेश या नीति की बातों के कहने की यह और भी विकसित पद्धति थी। इसका मूल उद्देश्य यह था कि उपदेश जिसे दिया जाए, उसका प्रत्यक्षतः उल्लेख न हो जिससे उसे बुरा न लगे। इसमें उसका नाम न लेकर किसी सटीक अप्रस्तुतः को उसका प्रतीक मानकर उसके प्रति नीति या उपदेश की बात कही जाती है। (ङ) **औपदेशिक कथात्मक**—यह नीति-कथन की एक दृष्टि से सुन्दरतम पद्धति है। इससे कथन में सजीवता आ जाती है और इस कारण नीति की प्रभविष्णुता बहुत बढ़ जाती है। पंचतंत्र आदि में यही पद्धति मिलती है। इस शैली की लोकप्रियता इसी से स्पष्ट है कि पंचतन्त्र का विश्व की अनेक भाषाओं में आधुनिक काल के बहुत पूर्व ही अनुवाद हो चुका था।[1] नीति-कथन की यह श्रेष्ठतम शैली या पद्धति विश्व को देने का श्रेय भारत को है। मूलतः यह शैली कदाचित् भारतीय लोक-परम्परा की है। लोककथाओं के रूप में इनका प्रचलन था और वहीं से जातकों में प्रथम बार साहित्य में इनका प्रयोग हुआ। जातकों से ही इन्हें महाभारत में कुछ और विकसित करके लिया गया और फिर इस परम्परा में पंचतंत्र की रचना की गई।[2]

इस प्रकार इन पाँचों में नीति-कथन-शैली का विकास मिलता है। संस्कृत में इनके अतिरिक्त प्रश्नोत्तर, कूट तथा संख्या पर आधारित शैलियों का भी यत्र-तत्र प्रयोग किया गया है, यद्यपि न तो ये बहुत लोकप्रिय या प्रभविष्णु रही हैं और न पूर्वकथित सहज विकास में इनका विशेष स्थान ही है। प्रश्नोत्तर शैली अन्य दो की अपेक्षा कुछ अधिक प्रभविष्णु तथा सहज अवश्य है, किन्तु वह काव्योचित कम है, गद्योचित तथा तर्कोचित अधिक। औपदेशिक कथा भी यद्यपि गद्य है, तथापि वह विस्तृत अर्थों में काव्य है। उपर्युक्त सभी

---

१. इसका पहला अनुवाद पहलवी में बुरजोई ने ५३३ ई० में किया था। वहाँ से अरबी में होता हुआ पंचतंत्र यूरोप की अनेक भाषाओं में पहुँच गया। 'सोलोमन का न्याय', शेक्सपीयर के 'एक पौंड मांस' तथा 'तीन कैस्केट', 'कलीला दमना', 'ईसप की कहानियाँ' आदि में उसकी छाया स्पष्ट है। जोजेफ़ (बोधिसत्व < बुदसफ़ < जोजेफ़) की कथा ललितविस्तर की एक कथा पर आधारित है। डॉ० ग्रिफ़िथ के अनुसार 'इलियड' और 'ऑडिसि' रामायण, महाभारत से प्रभावित लोककथाएँ हैं। 'होमर' का मूल अर्थ संकलनकर्ता भी इसी ओर संकेत करता है। 'मूसा' का शाब्दिक अर्थ 'काला' है। उनके पैदा होते ही नवजात सारे यहूदी शिशुओं को मारने की आज्ञा तथा उन्हें एक संदूक में बन्द करके बहा देना—और बादशाह की बहन द्वारा उनका पुत्र की तरह पालन आदि कृष्ण-कथा की याद सहज ही दिला देता है। इस प्रकार कथा-साहित्य में भारत की देन बहुत बड़ी है।

२. कीथ का कहना कुछ और है। वे (History of Sanskrit Literature, लंदन, १९४१, पृ० २४८) किसी मूल पंचतंत्र को जातक के पूर्व का मानते हैं और जातकों को उसी से प्रभावित मानते हैं।

शैलियों में कहे गए नीति-काव्य में सूक्ति, अन्योक्ति और औपदेशिक कथा, ये तीन ही बहु-प्रचलित तथा विशेष महत्त्व की हैं। जहाँ तक विषयों का प्रश्न है, संस्कृत का नीति-साहित्य बहुत ही भरा-पूरा है। उस काल तक के समाज की दृष्टि से जितनी भी धर्म, आचार, व्यवहार तथा राजनीति आदि की बातें हो सकती हैं, प्रायः सभी को किसी-न-किसी रूप में अभिव्यक्ति मिली है। यही कारण है कि बाद में चाहे मध्ययुगीन भाषाओं का नीति-काव्य हो या आधुनिक भाषाओं का, मौलिकता और नवीनता प्रायः केवल वहीं दिखलाई पड़ती हैं जहाँ नये युग के अनुकूल नई नीतियों की उद्भावना की गई है, अन्यथा प्रायः सर्वत्र संस्कृत की न्यूनाधिक रूप से छाया ही दिखाई पड़ती है। यों शाश्वत नीति में बहुत कुछ परिवर्तन सहज संभव भी नहीं होता।

पालि साहित्य भी नीति से बहुत भरा-पूरा है। विशेषतः 'धम्मपद' और 'जातक कथाओं की रचना तो जैसे इस दृष्टि से हुई ही है। 'धम्मपद' में ज्ञान, क्षमा, क्रोध, वैर, कंजूसी, संतोष, संग, चंचलता, स्त्री, संयम तथा निन्दा आदि अनेकानेक धार्मिक और व्यावहारिक विषयों पर नीति के छंद हैं। जातक की कथाओं में भी इसी प्रकार की अनेकानेक नीति की बातों को उदाहृत करने के लिए कथाएँ दी गई हैं और कथाओं के परिणाम-स्वरूप नीति की बातें या सिद्धान्त अंत या बीच में गाथाओं में दिए गए हैं। कहना न होगा कि ठीक यही पद्धति 'पंचतंत्र' में भी है। धम्मपद तथा जातक, यद्यपि ये दोनों ही बौद्ध धर्म से संबद्ध पुस्तकें हैं, तथापि इनकी बातें कभी-कभी बहुत ही व्यावहारिक तथा कुछ अंशों में धर्म-विरोधी भी हैं। उदाहरणार्थ, एक जातक कथा में कहा गया है कि 'नित्य परिश्रम न करने वाले की गृहस्थी नहीं चलती। झूठ न बोलने वाले की गृहस्थी नहीं चलती और दंड-त्यागी की गृहस्थी नहीं चलती।'[1] इस प्रकार पालि का नीति-काव्य पालि-साहित्य की सामान्य आत्मा से बहुत से स्थलों पर भिन्न तथा व्यावहारिकता के निकट है।

प्राकृत का साहित्य संस्कृत पालि की भाँति नीति की दृष्टि से, बहुत सम्पन्न तो नहीं है, पर उसमें भी नीति-छन्दों का एकांत अभाव भी नहीं है। धार्मिक या जैन प्राकृत के 'उपदेशमाला' (धर्मदास गणिकृत), 'ज्ञानपंचमी कथा' (महेश्वर सूरिकृत), मूलाचार (वट्टकैराचार्य कृत) तथा 'कथाकोश प्रकरण' (जिनेश्वर सूरिकृत) आदि ग्रन्थ धर्मनीति की दृष्टि से अच्छे हैं। व्यवहार या लोकनीति की दृष्टि से साहित्यिक प्राकृत के 'गाहा सत्तसई' (संग्रहकर्ता हाल) तथा 'वज्जालग्ग' (संग्रहकार जयवल्लभ) ग्रन्थ उल्लेख्य हैं। प्रवरसेन के रावणवहो, वाक्पतिराज के गउडवहो, विमलसूरि के 'पउमचरित' आदि भी इस दृष्टि से अच्छे हैं। इनमें सज्जन, दुर्जन, स्वभाव, कुलीनता, चुगली, कृपणता, राजा तथा प्रजा आदि वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि प्रायः सभी विषयों पर नीति की सुन्दर सूक्तियाँ हैं यद्यपि धर्मनीति का ही प्राधान्य है।

अपभ्रंश-साहित्य भी प्राकृत की भाँति ही नीति में संस्कृत और पालि से पीछे है, यद्यपि धर्मनीति की दृष्टि से उसे सम्पन्न कहा जा सकता है। पाहुड़ दोहा (रामसिंह मुनिकृत), सावयधम्म दोहा (जिनदत्त सूरिकृत), उपदेशरसायन (जिनदत्त सूरिकृत) तथा सिद्धों की रचनाएं यहाँ विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। इन सभी में धर्म-नीति पर्याप्त मात्रा में है। व्यवहार या लोकनीति हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत छन्दों में कुछ मिलती है और कुछ प्रबन्ध काव्यों में यत्र-तत्र। शैली की दृष्टि से पालि, प्राकृत और अपभ्रंश का नीति-साहित्य संस्कृत का ही अनुगामी है।

हिन्दी के इन पूर्ववर्ती साहित्य के नीति-अंशों से हिन्दी के नीति-काव्य की तुलना

१. जातक २. पृ० ४१९

करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इनका हिन्दी पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। यह प्रभाव दो स्रोतों से संभव है। एक तो प्रत्यक्ष स्रोत से, अर्थात् इन्हें पढ़ या जानकर और दूसरे परोक्ष स्रोत से। परोक्ष स्रोत से[१] आशय है परम्परा से प्राप्त विश्वासों एवं मान्यताओं से जिनकी स्थापना में पूर्ववर्ती साहित्यों का भी हाथ है।

संस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश से रिक्थ रूप में मिली यह नीति-परंपरा हिन्दी में, जैसा कि स्वाभाविक है, युग से प्रभावित होती रही है। पीछे नीति के वर्गीकरण में इस बात का संकेत किया जा चुका है कि नीति की कुछ बातें शाश्वत महत्त्व की होती हैं और कुछ सामयिक या तात्कालिक। सामयिक या तात्कालिक महत्त्व की नीति अस्थायी होती है और युग की परिस्थिति के अनुकूल इसका विकास, ह्रास या इसमें परिवर्तन प्रायः होता है। स्थायी या शाश्वत नीति में इस प्रकार के परिवर्तन प्रायः नहीं होते, हाँ युग-विशेष में उनके महत्त्व में कमी-वेशी अवश्य संभव होती है।

हिन्दी नीति-काव्य पर युग-प्रभाव की दृष्टि से यहाँ ऐतिहासिक दृष्टि डाली जा सकती है। राजनीति और सामाजिक इतिहास के विद्यार्थी से यह बात छिपी नहीं है कि हिन्दी के आदिकाल में उत्तर भारत में युद्ध और धर्म के स्वर प्रमुख थे। सामूहिक या राष्ट्रीय वीरता का तो अभाव था, पर वैयक्तिक वीरता अपनी चरम सीमा पर थी। इस क्षेत्र के लोग जीवन की चरम सार्थकता युद्ध में लड़ते-लड़ते मर जाने में मानते थे। आल्हखंड का रुपना बारी अपने द्वारा किए गए काव्यों के पुरस्कार-स्वरूप कोई वस्तु या धन आदि न माँग-कर थोड़ी देर तक लड़ाई करने का नेग माँगता है। आल्हखंड की प्रसिद्ध पंक्ति में उस युग की यह भावना जैसे साकार हो उठी है—

बरिस अठारह छत्री जीवे, आगे जीवन को धिक्कार।

दूसरी ओर सिद्धों, नाथों और जैनों के सम्पर्क में रहने वाले लोग धर्म के विविध रूपों की साधना में जीवन की सार्थकता मानते थे। आल्हखंड की एक दूसरी पंक्ति ने उस युग की इन दोनों ही विशेषताओं को बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है—

जननी ऐसा बेटा जनिये, कै सूरा कै भक्त कहाय।

ऐसी स्थिति में यह सर्वथा स्वाभाविक है कि तत्कालीन साहित्य के नीति-अंश में इन दोनों की प्रधानता हो। पृथ्वीराज रासो तथा आल्हखंड के नीति-छंद तत्कालीन राजनीति तथा युद्ध विषयक भावना का प्रतिनिधित्व करते हैं, तो गोरखनाथ के भक्ति-विषयक भावना का। रासो का एक छंद है—

सोइ ज सूर सा ध्रम्म, जुग्ग सा ध्रम्म न पुज्जै।
दया दान दम तित्थ, सबै सा ध्रम मनि रुज्झै।
सामि ध्रम्म बर सुगति, नरक नर तित्थ निवासौ।
मुनि हमीर सा ध्रम्म, करै सुरपुर नर वासौ।
सा ध्रम्म मुगति बधै रवन, साँमि ध्रम्म जस मुगति बर।
अबकित्त करतार कर, नरक चूक झुझ्झौति नर।

छन्द से स्पष्ट है कि युद्ध और राजनीति के सम्पर्क में रहने वाले लोगों के लिए दया,

१. इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए देखिये लेखक के शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी नीति-काव्य' का तीसरा अध्याय।

दान, तीर्थ, धर्म आदि से बढ़कर स्वामिधर्म या स्वामी के लिए युद्ध में मर मिटना था। अंतिम पंक्ति में कवि स्पष्टतः कहता है कि 'अपकीर्ति और कीर्ति, यों तो विधाता के हाथ में हैं, किन्तु नरक से बचने का उपाय युद्ध में लड़ मरना है।' इस प्रकार की नीति के अन्य भी बहुत से छन्द रासो में हैं। आल्हखंड में उस समय की युद्धनीति के सम्बन्ध में एक स्थान पर कहा गया है—

भजै सिपाही कौ ना मारैं ना औरत पर डारैं हाथ।

तत्कालीन साधु-संतों एवं धार्मिक व्यक्तियों में आचार-विषयक भ्रष्टताएँ बहुत अधिक प्रचलित थीं। इसी कारण गोरखनाथ में, जो धर्म और आचार-नीति है, उसमें इन भ्रष्टताओं के विरोध की ही प्रधानता है।

भक्तिकाल तक आते-आते देश में भक्ति के वातावरण का प्राधान्य हो गया, पर उसके आदर्श रूप और धार्मिक व्यक्तियों की यथार्थ स्थिति में बहुत अंतर था। इसी कारण कबीर आदि संतों के नीति-अंश में व्यर्थ के धार्मिक आडंबरों के प्रति विद्रोही स्वर का प्राधान्य है। तुलसी का दृष्टिकोण कुछ भिन्न है। उन्हें भारतीय संस्कृति के अनुकूल हिन्दू समाज नहीं दिखाई पड़ा, अतः उस दृष्टि से उन्होंने उसकी आलोचना करते हुए, उसे उचित पथ पर लाने के लिए, अपने नीति और उपदेश के छंदों की विविध सन्दर्भों में रचना की। तत्कालीन नीतिकारों का तीसरा वर्ग रहीम, देवीदास, नरहरि, टोडरमल, बीरबल तथा गंग आदि का है। इन सभी का सम्बन्ध उच्च शिष्ट समाज तथा राज्य-दरबारों से था, अतः इनके नीति-काव्य में तत्कालीन व्यवहार-नीति, समाज-नीति तथा राजनीति के सामान्य सिद्धांत मुखरित हुए हैं। इस काल में राजनीति और युद्ध का आदिकालीन वातावरण नहीं था, अतः उस प्रकार की नीति का दर्शन इस काल में प्रायः नहीं होता।

रीतिकाल तक आते-आते भक्तिकालीन भक्ति का यथार्थ रूप लगभग तिरोहित हो चला था, यदि कहीं कुछ अवशेष था तो वह यथार्थ न होकर प्रायः छाया-मात्र था। इसी कारण इस युग में एक तो धर्म और आचार-विषयक नीति-काव्य की रचना अधिक नहीं हुई, और यदि थोड़ी-बहुत हुई भी तो उसे पिछले युग का अनुकरण ही कहा जाएगा। युगानुकूल न होने के कारण उसमें यथार्थ अनुभूति का स्पन्दन नहीं है। इस युग में सामन्तों और बादशाहों के यहाँ शिष्टाचार और व्यवहार को परम्पराओं का पालन होता था, अतः वृन्द आदि रीतिकालीन नीतिकारों में उस प्रकार की व्यवहार-समाज-नीति की प्रमुखता है। पर भक्तिकाल के इसी प्रकार के नीति-काव्य से और इससे स्पष्ट अन्तर है। रहीम और वृन्द की तुलना करने पर लगता है कि रीतिकाल के प्रतिनिधि नीतिकार कवि वृन्द में जहाँ ऊपरीपन है, वहाँ रहीम में गाम्भीर्य और चिन्तन की स्पष्ट छाप है। यह भी युग का प्रभाव है। यहाँ एक और बात भी उल्लेख्य है। संस्कृत आदि पूर्ववर्ती भाषाओं के नीति-छंदों से भक्तिकालीन नीति-छंदों का भावसाम्य तो है, पर अनुकरण की वह प्रवृत्ति वहाँ नहीं है जो रीतिकालीन कवियों में है। रीतिकालीन काव्य अपनी अन्य धाराओं की भाँति नीतिधारा के क्षेत्र में भी संस्कृत तथा फारसी से पर्याप्त प्रभावित है। मात्र गिरिधर ने अपवादस्वरूप जन-जीवन से अपनी बातों को लिया है।

आधुनिक युग प्रधानतः सामाजिक सुधारों एवं अनेक प्रकार के जागरण का है। आधुनिक नीति-काव्य भी इसी का प्रतिबिम्ब है। आधुनिक युग के रामप्रसाद तिवारी, प्रतापनारायण मिश्र, पाटन, हरदीन त्रिपाठी, रामेश्वर 'करुण', शिवरतन शुक्ल 'सिरस', रामचरित उपाध्याय, भगवानदीन, मैथिलीशरण गुप्त, दुलारेलाल भार्गव तथा दिनकर आदि के नीति-काव्य में आधुनिक युग की करवट की किसी-न-किसी रूप में अभिव्यक्ति है।

इस प्रकार हिन्दी का नीति-काव्य युग के साथ रहा है, यद्यपि हर युग में यह स्थिति

एक-सी नहीं है। किसी में युगानुकूलता कम है तो किसी में अधिक। इसके साथ ही सार्वकालिक या शाश्वत नीति की बातों का भी इसमें समावेश है, विशेषतः आदि, भक्ति और आधुनिक युग में युगानुकूल नीति का प्राधान्य है, पर भक्ति और रीतिकाल में तात्कालिक से कम ध्यान सार्वकालिक या शाश्वत नीति पर नहीं है। भक्तिकाल में जीवन के प्रत्येक पक्ष की ओर संतुलित दृष्टिकोण होने के कारण ही सम्भवतः ऐसा हुआ है, पर रीतिकाल में शाश्वत नीति-कथन संतुलित दृष्टि का परिणाम न होकर कदाचित् अनुकरण या पूर्ववर्ती बातों को नए आवरण में कहने के प्रयास का ही फल है।

इस प्रकार हिन्दी का नीति-काव्य युग के साथ रहा है, यद्यपि इसके साथ ही सार्वकालिक या शाश्वत नीति को भी यथावसर—विशेषतः भक्ति तथा रीतिकाल में—स्थान मिलता रहा है।

यहाँ तक तो भावों और विचारों की बात थी। अभिव्यक्ति-पक्ष भी युग से अप्रभावित नहीं रहा। विशेषतः अप्रस्तुतों पर युग का प्रभाव काफी दिखाई देता है, यहाँ तक कि आधुनिक युग के नीतिकारों ने 'रेल का सिग्नल' और 'इंजन' आदि को लेकर अन्योक्तियाँ भी लिखी हैं। मोटर, बिजली तथा इंजेक्शन आदि आधुनिक आविष्कारों के उदाहरण तो बहुत अधिक लिए गए हैं।

यों तो हिन्दी नीति-काव्य अंशतः प्रबंध-काव्यों में भी मिलता है, किन्तु उनका प्रणयन मुख्यतः मुक्तक रूप में ही हुआ है। मुक्तक रूप में प्राप्त हिन्दी नीति-काव्य को निम्नांकित तीन वर्गों में रखा जा सकता है—

(क) नीति की फुटकर कविताएँ— जैसे गंग, बीरबल, टोडरमल आदि प्राचीन और रामनरेश त्रिपाठी, मैथिलीशरण गुप्त, कन्हैयालाल पोद्दार एवं रामचरित उपाध्याय आदि नवीन कवियों के नीति के फुटकर छंद।

(ख) नीति की मुक्तक कविताओं के संग्रह– इसके कई भेद किये जा सकते हैं --

१. सतसई रूप में संग्रह, जैसे 'वृंद-सतसई'।

२. सतसई से बड़े संग्रह, जैसे महात्मा भगवानदीन के 'नीति के दोहे।'

३. सतसई से छोटे संग्रह, जैसे 'रहीम दोहावली', छत्रसाल की 'नीतिमंजरी', मीराँ का 'अन्योक्तिशतक', विनयभक्ति की 'अन्योक्तिबावनी', केवलकृष्ण शर्मा की 'नीति-पचीसी' आदि।

४. किसी विशेष युग, समाज या वर्ग को दृष्टि में रखकर किये गये संग्रह, जैसे गुप्त जी की 'भारत-भारती', शिवशंकर मिश्र का 'सदाचार-सोपान', रामप्रसाद तिवारी का 'सुता-प्रबोध'।

(ग) अन्य विषयक मुक्तक कविताओं के साथ संगृहीत नीति कविताएँ—इसके भी कई भेद किए जा सकते हैं—

१. अन्य विषयक सतसइयों में संगृहीत नीति कविताएँ—सतसइयों के विषय के आधार पर इसके कई भेद हो सकते हैं। प्राप्त सतसइयों के आधार पर प्रमुख भेद निम्नांकित हैं—

(अ) भक्ति-विषयक सतसई में संगृहीत, जैसे 'तुलसी सतसई' में।

(आ) शृंगार-विषयक सतसई में संगृहीत, जैसे बिहारी, मतिराम या भूपति आदि की सतसइयों में।

(इ) वीर रस की सतसई में संगृहीत, जैसे वियोगी हरि की 'वीर सतसई' में।

(ई) किसान-विषयक सतसई में संगृहीत, जैसे निर्भय की 'किसान सतसई' में।

(उ) राष्ट्रीय उत्थान-विषयक सतसई में संगृहीत, जैसे महेशचन्द्र प्रसाद की 'स्वदेश सतसई' में।

२. अन्य विषयक सतसइयों से बड़े संग्रहों में संगृहीत नीति कविताएँ—इसके भी कई भेद हो सकते हैं—

(अ) शृंगार-विषयक बड़े संग्रहों में संगृहीत नीति कविताएँ, जैसे रसनिधि कृत 'रतनहजारा' में।

(आ) भक्ति-विषयक बड़े संग्रहों की नीति कविताएँ, जैसे कुलदीप की 'सहस्र दोहावली' में।

(इ) मिश्रित विषयों के बड़े संग्रहों में संगृहीत नीति कविताएँ, जैसे पाटन के 'ज्ञान-सरोवर' में।

३. अन्य विषयक सतसइयों से छोटे संग्रहों में संगृहीत नीति कविताएँ—इसके भी उपभेद हो सकते हैं—

(अ) भक्ति और ज्ञान विषयक छोटे संग्रहों में नीति कविताएँ, जैसे बनारसीदास की 'ज्ञान बावनी' में।

(आ) मिश्रित विषयों के छोटे संग्रहों में संगृहीत नीति कविताएँ, जैसे दुलारेलाल भार्गव की 'दुलारे दोहावली' या कविकिंकर के 'सुधासरोवर' में।

संस्कृत में नीति-कथन की शैली की चर्चा हो चुकी है। हिन्दी में मोटे रूप से छह प्रकार की शैलियाँ मिलती हैं जिनका संक्षिप्त परिचय उनकी परंपरा के साथ यहाँ दिया जा रहा है : (१) **उपदेशात्मक शैली**—नीति-कथन की यह सबसे सीधी और स्पष्ट शैली है। इसमें उपदेश को सीधे बिना किसी वक्रता, आकर्षण या साहित्यिकता का पुट दिए पद्यबद्ध कर दिया जाता है। इस शैली में शुष्कता रहती है। इसी कारण अन्य शैलियों की अपेक्षा इसका प्रभाव बहुत कम पड़ता है। स्मृतियों, पुराणों, कुछ नीतिग्रंथों (भर्तृहरि तथा चाणक्य आदि में), धम्मपद, प्राकृत के प्रबन्ध-काव्यों एवं पाहुड तथा सावयधम्म दोहा आदि में प्रायः इस शैली का प्रयोग हुआ है। हिन्दी में भी यह शैली बहुत प्रचलित रही है। गोरख, कबीर, तुलसी तथा गिरिधर आदि में इस शैली का प्रायः प्रयोग हुआ है। (२) **सूत्रात्मक शैली**—सूत्रात्मक शैली का सबसे बड़ा गुण है संक्षिप्त होना। इसमें कम-से-कम शब्दों में भाव रखे जाते हैं। संस्कृत के सूत्र-ग्रंथों में इस शैली का प्रयोग हुआ है। इस शैली में लिखे गए नीति के स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में संस्कृत में चाणक्य का केवल 'चाणक्यसूत्र' नामक ग्रन्थ प्राप्त है। पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश में यह शैली नीति के लिए नहीं मिलती। हिन्दी में भी इस शैली का प्रयोग नहीं हुआ है। यों लोकोक्तियों की शैली सूत्र शैली से मिलती-जुलती है। पर, यथार्थतः सूत्र-शैली का इन पर प्रभाव नहीं माना जा सकता। संस्कृत में बहुत से नीति-श्लोकों के अंश संस्कृत-काल में ही लोकोक्ति रूप में प्रयुक्त होने लगे थे। उन्हीं की परंपरा में हिन्दी की लोकोक्तियाँ हिन्दी नीति-कवियों के छन्द या छन्दांश हैं। ऐसी स्थिति में इस शैली का हिन्दी नीति-साहित्य में प्रायः अभाव ही मानना उचित होगा। हाँ, यदि हिन्दी की 'जो अपनी बात का नहीं, वह अपने बाप का नहीं' जैसी लोकोक्तियों को भी नीति-साहित्य में मान लें तो उन्हें इस शैली का माना जा सकता है। (३) **सूक्त्यात्मक शैली** इसमें नीति की बातें सूक्ति के रूप में रहती हैं। इनमें कथन शैली में वक्रता, चमत्कार, अलंकार-विधान या अन्य साहित्यिक उपकरणों के प्रयोग के कारण कसाव और आकर्षण रहता है। उपदेशात्मक शैली की भाँति यह शुष्क नहीं लगती। इसमें प्रभविष्णुता

बहुत रहती है। नीति-साहित्य के लिए इसे सर्वश्रेष्ठ शैली कहें तो अत्युक्ति न होगी। श्रेष्ठ नीतिकारों ने इस शैली का प्रायः प्रयोग किया है। संस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश—सभी में इस शैली का प्रयोग मिलता है। हिन्दी में भी यह शैली बहुप्रचलित है। इसके सबसे सुन्दर प्रयोग रहीम तथा वृन्द ने किये हैं। यों इस शैली के छन्द कबीर, तुलसी, जान, बिहारी तथा रामचरित उपाध्याय आदि में भी मिल जाते हैं। (४) **अन्योक्त्यात्मक शैली**—नीति कहने का सबसे शिष्ट और सूक्ष्म ढंग अन्योक्तियों का है। इसमें बात प्रस्तुत को सम्बोधित न करके उससे मिलते-जुलते अप्रस्तुत के प्रति कही जाती है और प्रस्तुत पर भी घटित होता है तथा उसे शिक्षा देती है। यह शैली पालि में तो प्रायः नहीं है, पर संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश में मिलती है। वहीं से यह हिन्दी में आई है। हिन्दी में अन्योक्तियों के लिए दीनदयाल गिरि का नाम अधिक प्रसिद्ध है, यद्यपि तुलसी, रहीम, वृंद, बिहारी, पूर्ण, कन्हैयालाल पोद्दार, मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय तथा सैयद अमीर अली 'मीर' आदि ने भी इस शैली के सुन्दर प्रयोग किए हैं। (५) **प्रकृति-चित्रणपरक शैली**—प्रकृति-चित्रण के साथ नीति की बातें कहने की शैली भी बड़ी मार्मिक है। इस शैली में प्रकृति की क्रियाओं का वर्णन रहता है और उसकी तुलना के लिए नीति के वचन रहते हैं। इस शैली का हिन्दी के पूर्ववर्ती साहित्यों में केवल सस्कृत में प्रयोग हुआ है। भागवत के १०वें स्कंध में वर्षा तथा शरद-वर्णन में यह शैली मिलती है। उसी के प्रभाव स्वरूप हिन्दी में तुलसी के मानस में भी वर्षा तथा शरद-वर्णन में इस शैली का प्रयोग हुआ है। (६) **कथात्मक शैली**—नीति-कथन की कथात्मक शैली सबसे अधिक प्रभावशालिनी, पर साथ ही विस्तार की है। इसमें कोई कथा कही जाती है जिसका निष्कर्ष नीतिपरक होता है। कभी-कभी उस निष्कर्ष को अंत या बीच या कथा के आरम्भ में ही छंदबद्ध भी कर देते हैं। जातक, पंचतंत्र एवं प्राकृत-अपभ्रंश की जैन कथाएँ इसी शैली में हैं। हिन्दी में १९वीं सदी के अंतिम चरण के कुछ उपन्यास, बीसवीं सदी के प्रथम दो दशकों की कुछ कहानियाँ तथा बाल-कथाओं एवं रामनरेश त्रिपाठी की नीतिपरक पद्यबद्ध कविताओं आदि में यह शैली मिलती है।

नीति का वर्गीकरण कई आधारों पर किया जा सकता है जिनमें प्रमुख आधार निम्नांकित हो सकते हैं : (क) **देश**—सभी देशों की संस्कृति तथा परंपराएँ आदि एक-सी नहीं होतीं। इसी कारण देश-देश की नीति भी कई दृष्टियों से भिन्न होती है, यद्यपि सभी स्तरों पर यह भिन्नता नहीं मिलती। (ख) **काल**—देश की भाँति ही काल के कारण भी नीति के स्वरूप में अंतर पड़ता है। कई दृष्टियों से प्राचीन नीतियाँ, मध्ययुगीन नीतियाँ तथा आधुनिक नीतियाँ पूर्णतः एक नहीं कही जा सकतीं। काल के आधार पर ही नीति के एक ओर एककालिक, सामयिक या अस्थायी तथा दूसरी ओर सार्वकालिक, शाश्वत या स्थायी नाम के दो वर्ग भी बनाए जा सकते हैं। 'सदा सच बोलो' शाश्वत नीति है किन्तु मध्यकालीन कवियों द्वारा नारी के बारे में कहीं गई नीति की अनेक बातें, आज रद्दी की टोकरी की ही शोभा बढ़ा सकती हैं। आल्हखंड की रचना जिस समय हुई, 'जननी ऐसा बेटा जनिए कै सूरा कै भक्त कहाय' सामयिक नीति के रूप में युग की आवाज थी, किन्तु आज की आवाज पूर्णतः यही हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। (ग) **परिस्थिति**—इसके आधार पर भी नीतियों को वर्गीकृत किया जा सकता है। जीवन में अनेक प्रकार की परिस्थितियाँ आती हैं और उन्हीं के अनुसार हमारी नीति भी बदलती रहती है। सच बोलना अच्छा है, किन्तु किसी ऐसी परिस्थिति में जब सत्य बोलने से किसी पूर्णतः निर्दोष व्यक्ति के दंड भोगने की संभावना हो, तब झूठ बोलना ही अच्छा कहा जाएगा। (घ) **पात्र या नीति के पालनकर्ता**—इसके आधार पर भी नीतियों को वर्गीकृत किया जा सकता है। सभी स्थितियों में किसी समस्या के प्रति बड़े-छोटे, राजा-प्रजा, धनी-गरीब, स्वामी-सेवक, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, रक्षक-रक्षित आदि

का दृष्टिकोण एक-जैसा नहीं हो सकता। इस प्रकार बहुत-सी बातों में इन सभी की नीति अलग-अलग हो सकती है। (ङ) **नीति जिनके प्रति पालन की जाए**, उनके आधार पर भी वर्गीकरण किया जा सकता है। इस आधार पर समाज, परिवार, राजा, मनुष्य, पशु पक्षी, परिचित तथा अपरिचित आदि अनेक के प्रति अलग-अलग नीतियाँ हो सकती हैं। (च) **विषय**—विषय के आधार पर धर्म, आचार, राज, अर्थ, व्यवहार, व्यवसाय आदि अनेक भेद तथा इनके विभिन्न उपभेद आदि हो सकते हैं। जहाँ तक नीति-काव्य का प्रश्न है, माध्यम (गद्य-पद्य आदि) या शैली आदि के आधार पर भी वर्ग बनाए जा सकते हैं।

हिन्दी में प्राप्त नीति-काव्य के प्रतिपाद्य विषयों को धर्म, सामाजिक व्यवहार, पारिवारिक व्यवहार, राजनीति, शकुन, व्यापार, स्वास्थ्य तथा खेती, प्रमुखतः इन आठ शीर्षकों के अंतर्गत विभाजित किया जा सकता है। किन्तु यह विभाजन सभी दृष्टियों से दो-टूक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसे बहुत से विषय हैं जो किसी-न-किसी रूप में एकाधिक शीर्षका के अंतर्गत रखे जा सकते हैं। विशेषतः धर्म और सामाजिक व्यवहार के विषयों में यह कठिनाई बहुत अधिक है। उदाहरणार्थ, क्रोध या दया आदि का धर्म और सामाजिक व्यवहार दोनों से ही संबंध है। यहाँ उपर्युक्त वर्गों पर ही संक्षेप में अलग-अलग विचार किया जा रहा है।

हिन्दी नीति-काव्य में वर्णित धर्म-नीति में ऐसी बातें आई हैं जो भारतीय विचारधारा के अनुसार धर्म का अंग मानी गई हैं और ईश्वर या मोक्ष की प्राप्ति के लिए जिनका पालन आवश्यक है। यहाँ यह भी ध्यान में रखने की बात है कि भारत में धर्म का स्वरूप सर्वदा ही समाज-सापेक्ष रहा है, इसीलिए सामाजिक व्यवहार के लिए जो बातें आवश्यक हैं, या दूसरे शब्दों में ऐसे बहुत से व्यावहारिक नियम जो व्यष्टि, और समष्टि दोनों के विकास के लिए अनिवार्य हैं, प्रायः हमारी धर्म-नीति या हमारे धार्मिक नियमों में रखे गए हैं। मनु का प्रसिद्ध श्लोक —

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः
धीर्विद्या सत्यमक्रोधी दशकं धर्मलक्षणम्।

इस बात का प्रर्याप्त प्रमाण है। कहना न होगा कि क्षमा, सत्य तथा अक्रोध सामाजिक नीति के ही अंग हैं, किन्तु हमारे यहाँ व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास में भी उन्हें आवश्यक माना गया है, जो ठीक भी है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, अतः उसका पूर्ण विकास समाज से निरपेक्ष होने पर संभव नहीं हो सकता। हिन्दी नीति-काव्य में वर्णित इस प्रकार के अन्य विषय दया तथा परोपकार आदि हैं। धर्म-नीति में दूसरे प्रकार की बातें वे हैं जिनका संबंध समाज से न होकर केवल व्यक्ति से है। नाम-स्मरण, माया आदि से दूर रहना तथा खान-पान या रहन-सहन विषयक आचारिक नियम इसी प्रकार के हैं। धर्म-नीति पर बल देने वाले कवियों में कबीर, तुलसी, वृंद, दीनदयाल गिरि, सुन्दरदास, जान तथा गिरिधर आदि प्रमुख हैं।

सामाजिक व्यवहार के नियमों के दो उद्देश्य हैं। एक तो व्यक्ति की सांसारिक उन्नति; और दूसरे, सामाजिक व्यवस्था। हिन्दी नीति-काव्य में प्रायः इन दोनों बातों को ध्यान में रखते हुए समाज, जाति, पड़ोसी, शत्रु, मित्र, दुष्ट, सज्जन, बचपन, तरुणाई, बुढ़ापा, नारी, आय-व्यय, धनी, गरीब, ऋण देना, गुण, दोष, बाल-स्वभाव, अभ्यास, शील, निन्दा, ईर्ष्या, चुगली, बदला, धोखा आदि के विषय में नीति की बातें कही गई हैं। कुछ कवियों का ध्यान कभी-कभी समाज से अधिक व्यक्ति पर रहा है, अतः ऐसी नीतियों को भी अभिव्यक्ति मिली है जिन्हें समाज तथा धर्म-विरोधी कहा जा सकता है। गिरिधर कविराय ने कुछ इसी प्रकार—

जाकी धन धरती लई ताहि न लीजै संग ।
जो संग राखे ही बने तो करि डारु अपंग ।।

को नीति कहीं-कहीं कही है। कहना न होगा कि इस प्रकार की नीतियाँ सर्वथा अनुचित हैं और कवि के सीमित तथा विकलांग दृष्टिकोण को प्रकट करती हैं। 'नारी' के सम्बन्ध में नीति के कवियों ने कदाचित् सबसे अधिक लिखा है और कुछ अपवादों को छोड़ कर प्रायः नारी की निन्दा की है। इसके प्रमुख कारण दो हैं। एक तो नारी के व्यक्तित्व का कुछ अदृढ़ होना तथा दूसरे भक्ति की दृष्टि से उसका पुरुष-मार्ग में कंटक होना। यद्यपि दूसरे कारण को उलट कर पुरुष के विरुद्ध भी रखा जा सकता है। समाज और व्यवहार-विषयक नीतियों पर तुलसी, रहीम, नरहरि, रत्नावली, वृंद, बिहारी, गिरिधर, बाँकीदास, दीनदयाल गिरि, भगवानदीन तथा रामचरित उपाध्याय आदि ने विशेष रूप से लिखा है।

पारिवारिक नीति में पिता-माता-पुत्र-भाई-पत्नी आदि के आपसी सम्बन्धों पर प्रकाश पड़ता है। तुलसी, रहीम, वृंद, रामचरित उपाध्याय आदि में यह नीति विशेष रूप से मिलती है।

राजा-राज्य या शासन-सम्बन्धी नीति को राजनीति कहते हैं। आज तो राजनीति की शाखाओं-प्रशाखाओं का इतना व्यवस्थित अध्ययन होने लगा है कि इसे विज्ञान की प्रतिष्ठा दे दी गई है, पर प्राचीन काव्य में इस विषय से संबद्ध सामान्य बातें ही इसके अन्तर्गत आती थीं। हिन्दी नीति-काव्य में भी इस प्रकार की सामान्य बातों को ही स्थान मिला है, जैसे—राजा कैसा हो, वह कैसे अपने मंत्री, नौकर, शत्रु, मित्र, रानी तथा बन्धु-बांधव से व्यवहार करे, उसके गुण और अवगुण क्या हैं, वह कर कैसे ले और उसे कैसे व्यय करे तथा दूत कैसे हों, आदि। इन नियमों में समाज या प्रजा का भी ध्यान रखा गया है, पर कुछ का अधिक ध्यान 'राजा' पर ही है। इन विषयों पर लिखने वालों में प्रमुख नाम तुलसी, नरहरि, देवीदास, केशव, छत्रसाल, वृंद, जान, बाँकीदास तथा भगवानदीन के लिए जा सकते हैं।

खेती, शकुन, व्यापार और स्वास्थ्य संबंधी सामान्य ज्ञान-विषयक नियम भी हिन्दी नीति-साहित्य में दिए गए हैं, किन्तु हैं ये सामान्य ज्ञान-विषयक ही। क्योंकि विस्तृत रूप में इन चारों (कृषिविज्ञान, फलितज्योतिष, वाणिज्यशास्त्र और चिकित्साशास्त्र) का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है। इन चारों में खेती और शकुन के संबंध में कुछ विस्तार से विचार किया गया है। खेती के संबंध में लिखने वाले प्रमुख कवि घाघ हैं। शकुन पर भड्डरी और चरनदास ने विशेष लिखा है, यों जायसी तथा तुलसी आदि कुछ अन्य लोगों ने भी यत्र-तत्र इस विषय को उठाया है। व्यापार और स्वास्थ्य के संबंध में बड़ी चलती और सामान्य बातें घाघ तथा कविकिंकर आदि द्वारा कहीं गई हैं।

उपर्युक्त विषयों के संबंध में नीति के कवियों द्वारा कही गई बातों पर एक दृष्टि से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन कवियों का ध्यान सबसे अधिक समाज और व्यवहार-नीति पर था। यह ठीक भी है, क्योंकि, धर्म, राजनीति, स्वास्थ्य, व्यापार, शकुन तथा खेत के संबंध में तो इनसे सबद्ध शास्त्रों या विज्ञानों में अलग भी विचार किया जाता है, किन्तु व्यवहार और तद्विषयक जानकारी से संबंद्ध कोई भी शास्त्र या विज्ञान अभी तक मनुष्य विकसित नहीं कर सका है, यद्यपि इसकी जानकारी की आवश्यकता समाज में रहने वाले व्यक्ति के लिए किसी भी अन्य ज्ञान, शास्त्र या विज्ञान से कम नहीं है। इस रूप में हिन्दी नीति-काव्य की बातों को मानव के अन्य ज्ञानों का अत्यावश्यक पूरक कहा जाए तो कदाचित् अत्युक्ति न होगी।

हिन्दी नीति-काव्य के विचार-पक्ष पर संक्षेप में विचार करने के उपरांत उसकी भाषा, शैली, छन्द तथा अलंकार का भी सिंहावलोकन किया जा सकता है।

नीति-काव्य में प्रमुख रूप से ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है। रहीम, वृंद, दीनदयाल गिरि, जान तथा रामचरित उपाध्याय (ब्रज सतसई) ने ब्रज का ही प्रयोग किया है। अवधी का प्रयोग भी हुआ है, किन्तु बहुत कम। इसका प्रयोग करने वालों में उल्लेख्य तुलसी, नरहरि तथा गिरिधर हैं। डिंगल का प्रयोग करने वालों में प्रमुख बाँकीदास तथा खड़ीबोली का प्रयोग करने वालों में प्रमुख रामचरित उपाध्याय (सूक्तिशतक) तथा महात्मा भगवानदीन हैं। प्रायः सभी कवियों की भाषा सरल है। मुहावरों का प्रयोग भी किया गया है, यद्यपि अधिक नहीं। लोकोक्तियों का प्रयोग हिन्दी की नीति-काव्यधारा में अन्य धाराओं की अपेक्षा बहुत अधिक हुआ है। इस दृष्टि से उल्लेख्य नाम वृंद तथा प्रतापनारायण मिश्र के हैं।

हिन्दी नीति-काव्य की शैली के प्रमुख गुण स्पष्टता, सरलता तथा प्रभविष्णुता हैं। पीछे संस्कृत में नीति पर विचार करते समय निर्देश, उपदेश, सूक्ति, अन्योक्ति तथा औपदेशिक कथा आदि नीति-कथन की शैलियों की ओर संकेत किया गया है। हिन्दी में उपदेश, सूक्ति तथा अन्योक्ति, इन तीन का विशेष प्रयोग है। उपदेश में कबीर, तुलसी, गिरिधर आदि प्रमुख हैं; सूक्ति में रहीम, वृंद, जान, रामचरित उपाध्याय तथा भगवानदीन आदि हैं; और अन्योक्ति में दीनदयाल गिरि। कथात्मक शैली अपवाद-स्वरूप ही मिलती है। हिन्दी में, नीति की बातों के लिए संस्कृत आदि की तुलना में एक नई शैली का प्रयोग भी मिलता है जिसे मुकरी-शैली कह सकते हैं। 'मुकरी' कहने की परम्परा अमीर खुसरो से लेकर आधुनिक काल तक मिलती है। नीति-विषयक मुकरियाँ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा रामचरित उपाध्याय आदि कुछ ही लोगों ने लिखी हैं। सच पूछिए तो इस प्रकार की मुकरियाँ व्यंग्य-काव्य के अन्तर्गत आएँगी, किन्तु उस व्यंग्य की व्यंजना भी नीति या उपदेश के समीप पहुँच जाती है, अतः इन्हें नीति-काव्य के अन्तर्गत रखना अन्यथा नहीं कहा जा सकता। कहना न होगा कि मुकरी शैली हिन्दी नीति-काव्य की प्रकृत शैली न होकर अपवाद ही है। इसी प्रकार तुलसी ने वर्षा-वर्णन तथा शरद-वर्णन में प्रकृति-चित्रण के साथ नीति की बातें कही हैं। 'प्रकृति-चित्रण' के साथ होने की विशेषता के कारण इसे अलग शैली भी मान सकते हैं और इसीलिए पीछे ऐसा किया भी गया है।

नीति के नियमों को प्रभविष्णु बनाने के लिए कवियों ने अलंकारों का भी प्रयोग किया है। इनमें अधिकतर अलंकार ऐसे ही हैं जो नियमों की पुष्टि करने में सहायक होते हैं, जैसे अन्योक्ति, अर्थान्तरन्यास, उदाहरण, दृष्टांत, प्रतिवस्तूपमा, लोकोक्ति, विशेषोक्ति, काव्य-लिंग, विनोक्ति तथा विकल्प आदि। अन्य गौण रूप में प्रयुक्त अलंकारों में उल्लेख्य परि-करांकुर, परिसंख्या, सार, कारणमाला, एकावली, विरोधाभास, रूपक, यमक तथा श्लेष आदि हैं।

हिन्दी नीति-काव्य के बहुप्रयुक्त छंदों में दोहा, कुंडलिया, छप्पय, सोरठा, सवैया, कबित्त तथा चौपाई हैं। अन्य छंदों में बरवै, तोमर, चौपाई, रूपमाला, रोला, गीतिका, हरिगीतिका, पद तथा उर्दू बहर आदि हैं।

हिन्दी नीति-काव्य का कला-पक्ष अधिकांश कवियों में विचार-पक्ष के पूर्ण अनुकूल, अतएव सफल है।

सभी दृष्टियों से विचार करने पर यह कहना पड़ता है कि हिन्दी कविता की यह धारा काव्यत्व की दृष्टि से अन्य धाराओं की तुलना में उन्नीस होने पर भी विचार की दृष्टि से जीवन्त, और बीस है।

———

कबीर

कबीर के जीवन के सम्बन्ध में लगभग आधी शताब्दी से छानबीन हो रही है, पर अभी तक उसकी अधिकांश बातें अनिर्णीत हैं। जनश्रुतियों, प्राचीन उल्लेखों तथा उनकी अपनी रचनाओं में प्राप्त संकेतों में अनेक विरोधी बातें मिलने के कारण वर्तमान जानकारी के आधार पर इस विषय में निश्चय के साथ कुछ कहना इसीलिए कठिन है। मोटे रूप में इतना ही कहा जा सकता हैं कि इनका जीवन-काल लगभग ईसा की १५वीं सदी था। जैसा कि जनश्रुति है, ये किसी विधवा ब्राह्मणी के पुत्र थे, पर इनका लालन-पालन नीरू-नीमा ने किया था। इनके गुरु कदाचित् रामानंद थे। कबीर ने आजीवन हिन्दू-मुसलमानों के धर्माडंबरों और आचरण-विषयक बुराइयों का विरोध किया एवं ब्रह्मानुभूति के लिए सच्ची साधना की। कथनी-करनी के ऐक्य पर बल देने वाले इस महती आत्मा ने इन्हीं विषयों की अभिव्यक्ति अपनी कविता में की। स्वभावतः इनमें ब्रह्म-विषयक कविता धर्म और साधना-परक है और दूसरे प्रकार की कविता समाज, धर्म और आचार-परक है। यों तो पहले प्रकार की रचनाओं में भी यत्र-तत्र नीति की बातें हैं, पर दूसरे में इनका आधिक्य है। कबीर प्रमुखतः तो संत कवि हैं, किंतु नीति के कवि के रूप में भी इनका स्थान कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इनके नीति के प्रमुख विषय गुरु, धर्म, सत्य, अहिंसा, क्षमा, क्रोध, लोभ, गर्व, नारी, धन, मोह, आडंबर, मैत्री, संग, भाग्य, दुःख, कपट, निंदा, गुण तथा आशा आदि हैं। नीचे उनके कुछ नीति के दोहे-सोरठे दिए जा रहे हैं। कबीर के नाम से ऐसे बहुत से नीति के बड़े सुन्दर नीति-छंद प्रसिद्ध हैं जो उनके प्रामाणिक संस्करणों में नहीं मिलते।

गुरु गोबिन्द दोनों खड़े, काके लागूँ पायँ।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोबिंद दियो बताय ॥ १ ॥

सतगुर की महिमा अनँत, अनँत किया उपगार।
लोचन अनँत उघाड़िया, अनँत दिखावणहार ॥ २ ॥

पपिहा पन को ना तजै, तजै तौ तनबेकाज।
तन छूटै तो कछु नहीं, पन छूटै है लाज ॥ ३ ॥

जाका गुर भी अंधला, चेला खरा निरंध।
अंधे अंधा ठेलिया, दून्यूँ कूप पड़ंत ॥ ४ ॥

सत गुर बपुरा क्या करै, जे सिषही मांहै चूक।
भावै त्यूँ प्रमोधि ले, ज्यूँ बंसि बनाई फूँक ॥ ५ ॥

कबीर सतगुर नाँ मिल्या, रही अधूरी सीष।
स्वाँग जती का पहरि करि, घरि घरि माँगे भीष ॥ ६ ॥

कबीर कहै मैं कथि गया, कथि गया ब्रह्म महेस।
राम नांव ततसार है, सब काहू उपदेस ॥ ७ ॥

कबीर सुमिरण सार है, और सकल जंजाल।
आदि अंति सब सोधिया, दूजा देखौं काल ॥ ८ ॥

जिहि घट प्रीति न प्रेम रस, फुनि रसना नहिं राम ।
ते नर इस संसार में, उपजि षये बेकाम ॥ ९ ॥

हँसि-हँसि कंत न पाइए, जिनि पाया तिनि रोइ ।
जे हाँसेंही हरि मिलै, तौ नहीं दुहागिनि कोइ ॥ १० ॥

मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा ।
तेरा तुझकौं सौंपता, क्या लागै है मेरा ॥ ११ ॥

कबीर एक न जाँणियाँ, तो बहु जाँणियाँ क्या होइ ।
एकै तैं सब होत है, सब तैं एक न होइ ॥ १२ ॥

जब लग भगति सकामता, तब लगि निर्फल सेव ।
कहै कबीर वै क्यूं मिलैं, निहकाँमी निज देव ॥ १३ ॥

साधू ऐसा चाहिए, जैसा सूप सुभाय ।
सार-सार को गहि रहे, थोथा देइ उड़ाय ॥ १४ ॥

सातौ सबद जु बाजते, घरि घरि होते राग ।
ते मंदिर खाली पड़े, बैसण लागै काग ॥ १५ ॥

कबीर कहा गरबियौ, देही देखि सुरंग ।
बीछड़ियाँ मिलिबौ नहीं, ज्यूं काँचली भुवंग ॥ १६ ॥

कबीर कहा गरबियौ, ऊँचे देखि अवास ।
काल्हि पर्‌यो भ्वैं लेटणाँ, ऊपरि जामैं घास ॥ १७ ॥

यहु ऐसा संसार है, जैसा सैंबल फूल ।
दिन दस के ब्यौहार कौं, झूठे रंगि न भूल ॥ १८ ॥

मनिषा जनम दुर्लभ है, देह न बारंबार ।
तरवर थें फल झड़ि पड़्या, बहुरि न लागै डार ॥ १९ ॥

दीन गँवाया दुनीं सौं, दुनी न चाली साथ ।
पाइ कुहाड़ा मारिया, गाफिल अपणौं हाथि ॥ २० ॥

उजल कपड़ा पहरि करि, पान सुपारी खाँहि ।
एकै हरि के नाँव बिन, बाँधे जमपुरि जाहिं ॥ २१ ॥

मैं मैं बड़ी बलाइ है, सके तौ निकसो भाजि ।
कब लग राखौं हे सखी, रुई पलेटी आगि ॥ २२ ॥

मन जाणौं सब बात, जाणत ही औगुण करै ।
काहे की कुसलात, कर दीपक कूँवें पड़ै ॥ २३ ॥

करता था तौ क्यूँ किया, अब करि क्यूँ पछताइ ।
बोवै पेड़ बबूल का, आम कहाँ तैं खाइ ॥ २४ ॥

मनह मनोरथ छाड़ि दे, तेरा किया न होइ ।
पाँणी में घिव नीकसै, तो रूखा खाइ न कोइ ॥ २५ ॥

दुख में सुमिरन सब करै, सुख में करै न कोइ ।
जो सुख में सुमिरन करै, दुख काहे को होइ ॥ २६ ॥

छाया माया एक सी बिरला जानै कोइ ।
भगना के पीछे फिरै, सनमुख भागै सोइ ॥ २७ ॥

त्रिष्णां सीची नाँ बुझै, दिन दिन बधती जाइ ।
जवासा के रूष ज्यूँ, घण मेहाँ कुम्हिलाइ ॥ २८ ॥

कबीर कलि खोटी भई, मुनियर मिलै न कोइ ।
लालच लोभी मसकरा, तिनकूँ आदर होइ ॥ २९ ॥

रासि पराई राषताँ, खाया घर का खेत ।
औरों कौं प्रमोधताँ, मुख मैं पड़िया रेत ॥ ३० ॥

कथणी कथी तो क्या भया, जे करणीं ना ठहराइ ।
कालबूत के कोट ज्यूं, देषतहीं ढहि जाइ ॥ ३१ ॥

काँमणि काली नागणीं, तीन्यूँ लोक मँझारि ।
राँम-सनेही ऊबरे, विषई खाये झारि ॥ ३२ ॥

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोइ ।
एकै आषर प्रेम का, पढ़ै सुपंडित होइ ॥ ३३ ॥

नारि नसावैं तीनि सुख, जा नर पासैं होइ ।
भगति मुकति निज ग्यान मैं, पैसि न सकई कोइ ॥ ३४ ॥

एक कनक अरु कामनीं, दोऊ अगनि की झाल ।
देखे हीं तन प्रजलै, परस्या ह्वै पैमाल ॥ ३५ ॥

रोजा करि जिबहै करैं, कहते हैं ज हलाल ।
जब दफ्तर देखैगा दई, तब ह्वैगा कौंण हवाल ॥ ३६ ॥

झूठे कौं झूठा मिलै, दूँणाँ बधै सनेह ।
झूठे कूँ साँचा मिलै, तब ही टूटै नेह ॥ ३७ ॥

जैती देषौं आत्माँ, तेता सालिगराम ।
साधू प्रतषि देव हैं, नहिं पाथर सूँ काम ॥ ३८ ॥

प्रभुता को सब कोउ भजै, प्रभु को भजै न कोइ ।
कह कबीर प्रभु को भजै, प्रभुता चेरी होय ॥ ३९ ॥

सब ते लघुताई भली, लघुता ने सब होय ।
जस दुतिया को चंद्रमा, सीस नवै सब कोय ॥ ४० ॥

जप तप दीसैं थोथरा, तीरथ ब्रत बेसास ।
सूवै सैंबल सेविया, यों जग चल्या निरास ॥ ४१ ॥

कबीर दुनियां देहुरै, सीस नवाँवण जाइ ।
हिरंदा भीतरि हरि बसै, तूँ ताही सौं ल्यो लाइ ॥ ४२ ॥

कबीर माला काठ की, कहि समुझावै तोहि ।
मन न फिरावै आपणाँ, कहा फिरावै मोहि ॥ ४३ ॥

कबीर माला मन की, औ संसारी भेष ।
माला पहर्‌यां हरि मिलै, तौ अरहट के गलि देष ॥ ४४ ॥

माला फेरत जुग गया, गया न मनका फेर ।
कर का मनका छाड़ि दे, मन का मन का फेर ॥ ४५ ॥

केसौं कहा बिगाड़िया, जे मूँड़ै सौ बार ।
मन कौं काहे न मूँडिए, जामैं बिषै बिकार ॥ ४६ ॥

तन को जोगी सब करै, मन को बिरला कोइ ।
सब सिधि सहजै पाइए, जे मन जोगी होइ ॥ ४७ ॥

निरमल बूंद अकास की, पड़ि गई भोमि बिकार ।
मूल बिनंठा मानवी, बिन संगति भठछार ॥ ४८ ॥

मूरिष संग न कीजिए, लोहा जलि न तिराइ ।
कदली सीप भुवंग मुख, एक बूंद तिहुँ भाइ ॥ ४९ ॥

ऊँचै कुल का जनमियाँ, जे करणी ऊँच न होइ ।
सुवरण कलस सुरै भरया, साधू निंद्या सोइ ॥ ५० ॥

कबीर तन पंषी भया, जहाँ मन तहाँ उड़ि जाइ ।
जो जैसी संगति करै, सो तैसे फल खाइ ॥ ५१ ॥

कबीर संगति साध की, बेगि करीजै जाइ ।
दुरमति दूरि गँवाइसी, देसी सुमति बताइ ॥ ५२ ॥

मथुरा जावै द्वारिका, भावै जा जगनाथ ।
साध संगति हरिभगति बिन, कछू न आवै हाथ ॥ ५३ ॥

कबीर चंदन का बिड़ा, बैठ्या आक-पलास ।
आप सरीखे करि लिए, जे होते उन पास ॥ ५४ ॥

संत न छाड़ै संतई, जे कोटिक मिलैं असंत ।
चंदन भुवँगा बैठिया, तउ सीतलता न तजंत ॥ ५५ ॥

रित बसंत जाचक भया, हरखि दिया द्रुम पात ।
तातें नव पल्लव भया, दिया दूर नहिं जात ॥ ५६ ॥

कबीर कुल तौ सो भला, जिहि कुल उपजै दास ।
जिहि कुल दास न उपजै, सो कुल आक-पलास ॥ ५७ ॥

कबीर हरदी पीयरी, चूना ऊजल भाइ ।
राम सनेही यूँ मिले, दून्यूँ बरन गँवाइ ॥ ५८ ॥

षीर रूप हरि नाव है, नीर आन व्यौहार ।
हंस रूप कोइ साध है, तत का जाँनणहार ॥ ५९ ॥

भूखा भूखा क्या करै, कहा सुनावै लोग ।
भाँडा घड़ि जिनि मुख दिया, सोई पूरण जोग ॥ ६० ॥

जाकौ जेता निरमया, ताकौ तेता होइ ।
रत्ती घटै न तिल बधै, जो सिर कूटै कोइ ॥ ६१ ॥

पद गांये लैलीन ह्वै, कटी न संसै पास ।
सबै पिछोड़े थोथरे, एक बिनां बेसास ॥ ६२ ॥

नीर पिलावत क्या फिरै, सायर घर घर बारि ।
जो त्रिषावंत होइगा, सो पीवेगा झख मारि ॥ ६३ ॥

कबीर किया कछु न होत है, अनकीया सब होइ ।
जे किया कुछ होत है, तौ करता औरै कोइ ॥ ६४ ॥

खूंदन कौ धरती सहै, बाढ़ सहै बनराइ ।
कुसबद तौ हरिजन सहै, दूजा सहा न जाइ ॥ ६५ ॥

कबीर चेरा संत का, दासनि का परदास ।
कबीर ऐसैं ह्वै रह्या, ज्यूँ पाँऊँ तलि घास ॥ ६६ ॥

रोड़ा ह्वै रहो बाट का, तजि पाषंड अभिमान ।
ऐसा जे जन ह्वै रहै, ताहि मिलै भगवान ॥ ६७ ॥

कबीर तहाँ न जाइए, जहाँ कपट का हेत ।
जालूँ कली कनीर की; तन रातौ मत सेत ॥ ६८ ॥

करगस सम दुर्जन बचन, रहै संत जन हारि ।
बिजुरी परै समुद्र में, कहा सकैगी जारि ॥ ६९ ॥

केला तबहिं न चेतिया, जब ढिग लागी बेरि ।
अब के चेत क्या भयो, काँटनि लीन्हीं घेरि ॥ ७० ॥

कमोदनी जलहरि बसै, चंदा बसै अकासि ।
जो जाही का भावता, सो ताही कै पास ॥ ७१ ॥

कबीर यहु घर प्रेम का, खाला का घर नाहिं ।
सीस उतारै हाथि करि, सो पैसे घर माँहि ॥ ७२ ॥

कबीर यहु जग अंधला, जैसी अंधी गाइ ।
बच्छा था सो मरि गया, ऊभी चाँम चटाइ ॥ ७३ ॥

जब गुण कू गाहक मिलै, तब गुण लाख बिकाइ ।
जब गुण कौ गाहक नहीं, तब कौड़ी बदले जाइ ॥ ७४ ॥

कबीर लहरि समंद की, मोती बिखरे आइ ।
बगुला मंझन जाँणई, हंस चुणे चुणि खाइ ॥ ७५ ॥

कस्तूरी कुंडलि बसै, मृग ढूँढ़ै बन माहिं ।
ऐसैं घटि घटि राम हैं; दुनियाँ देखै नाहिं ॥ ७६ ॥

दोख पराये देखि करि, चल्या हसंत हसंत ।
अपनै च्यंति न आवई, जिनकी आदि न अंत ॥ ७७ ॥

निंदक नेड़ा राखियै, आँगणि कुटी छवाइ ।
बिन साबण पाँणी बिना, निरमल करै सुभाइ ॥ ७८ ॥

निंदक दूरि न कीजिये, दीजै आदर मान ।
निरमल तन मन सब करै, बकि बकि आँनहिं आँन ॥ ७९॥

कबीर घास न निंदिये, जो पाँऊँ तलि होइ ।
ऊड़ि पड़ै जब आँखि मैं, खरा दुहेला होइ ॥ ८० ॥

कबीर आप ठगाइये, और न ठगिये कोइ ।
आप ठग्याँ सुख ऊपजै, और ठग्याँ दुख होइ ॥ ८१ ॥

कबीर इहु तनु जाइगा सकहु त लेहु बहोरि ।
नागे पाँवहुँ ते गये जिनके लाख करोरि ॥ ८२ ॥

लघुता से प्रभुता मिले, प्रभुता से प्रभु दूरि ।
चींटी सक्कर लै चली, हाथी के सिर धूरि ॥ ८३ ॥

कौड़ी कौड़ी जोरि कै, जोरै लाख करोरि ।
चलती बार न कछु मिल्यो, लइ लँगोटी छोरि ।। ८४ ।।

खूब खाना खीचरी जामै अमृत लोन ।
हेरा रोटी कारने गला कटावै कौन ।। ८५ ।।

गंगा तीर जु घर करहि पीवहि निर्मल नीर ।
बिनु हरि भगत न मुकति होइ यों कहि रमैं कबीर ।। ८६ ।।

कबीर गरबु न कीजियै, चाम लपेटे हाड़ ।
हैवर ऊपर छत्र तर तौ फुन धरनी गाड़ ।। ८७ ।।

जग काजल की कोठरी अंध परै तिस माँहि ।
हौं बलिहारी तिन्न की पैसि जु नीकसि जाहि ।। ८८ ।।

ठाकुर पूजहि मोल ले मन हठ तीरथ जाहि ।
देखा देखी स्वाँग धरि भूले भटका खाहि ।। ८९ ।।

कबीर तासो प्रीति करि जाको ठाकुर राम ।
पंडित राजे भूपती आवहि कौनें काम ।। ९० ।।

बाम्हन गुरु है जगत का भगतन का गुरु नाहि ।
अरझि उरझि कै पच मुआ चारहुँ बेदहुँ माहि ।। ९१ ।।

कबीर बेड़ा जरजरा फूटे छैक हजार ।
हरुये हरुये तिरि गये डूबे जिन सिर भार ।। ९२ ।।

कबीर मन पंखी भयौ, उड़ि उड़ि दहुँ दिसि जाइ ।
जो जैसी संगति मिलै, सो तैसो फल खाइ ।। ९३ ।।

मुल्ला मिनारे क्या चढ़हि साँइ न बहरा होइ ।
जा कारन तू बाँग देहि दिल ही भीतरि सोइ ।। ९४ ।।

कबीर सब ते हम बुरे, हम तजि भलो सब कोइ ।
जिन ऐसा करि बूझिया मीतु हमारा सोइ ।। ९५ ।।

कबीर समुंद न छोड़िये जो अति खारो होइ ।
पोखरि पोखरि ढूंढ़त भली न कहियै कोइ ।। ९६ ।।

हज काबे हौं जाइया आगे मिल्या खुदाइ ।
साँइ मुझस्यों लर पर्‍यौ तुझै किन फुरमाई गाइ ।। ९७ ।।

जहाँ ज्ञान तहँ धर्म है, जहाँ झूठ तहँ पाप ।
जहाँ लोभ तहँ काल है, जहाँ खिमा तहँ आप ।। ९८ ।।

कबिरा हमरा कोइ नहीं हम किसहूँ के नाहि ।
जिन यहु रचन रचाइया तिसही माहि समाहि ।। ९९ ।।

सूरा सो पहिचानिये जु लरै दीन के हेत ।
पुरजा पुरजा कटि मरै कबहुँ न छाड़ै खेत ।। १०० ।।

अर्थ-संकेत

२. अनँत = अत्यधिक; भगवान । ४. खरा निरंध = बिल्कुल अंधा । ५. बपुरा = बेचारा, ज्यूँ बंसी बजाइ फूंक = जैसे बजाने वाला बाँसुरी से मनमानी ध्वनि निकाल

सकता है। ७. ततसार = तत्त्व और सार। ९. षये = नष्ट हुए। १०. दुहागिनि = दुर्भाग्य-वती, विधवा। १६. काँचली = केंचुल। १७. अवास = घर। १८. सैंबल = सेमर। १९. मनिषा = मनुष्य। थैं = सै। २०. दीन-धर्म। दुनी = संसार। सौं = से, के लिए। २२. मैं मैं = अहं। पलेटी = लपेटी। २४. अंब = आम। २८. जवास = एक पौधा जो वर्षा होते ही सूख जाता है। २९. मुनियर = मुनिवर। मसकरा = भाँड़। ३०. प्रमोधता = शिक्षा देता। ३१. कालबूत = मेहराब के नीचे का कच्चा मेहराब। ३२. कामणि = स्त्री। झारि = सब। ३४. पैसि = प्रविष्ट कर। ३५. झाल = ज्वाला। परस्यां = छूने पर। पैमाल = नष्ट। ३७. बधै = बढ़ता है। ३८. प्रतषि = प्रत्यक्ष। ४२. देहुरे = मंदिर में। ४४. अरहट = रहँट। ४८. मानवीं = माना। विनंठा = निष्ट हुआ। भठछार = नष्ट-भ्रष्ट। ४९. स्वाती = इसकी बूंद, केले में कपूर, सीप में मोती और साँप में जहर बन जाती है ऐसी प्रसिद्धि है। ६०. भाँड़ा घड़ि = शरीर गढ़कर। ६२. पिछौड़े थोथरे = पीछा करना व्यर्थ है। ६३. सायर = समुद्र। ७५. मंझन = नहाना। ८०. खरा दुहेला = भारी संकट। ८५. हेरा = गोश्त। ८७. हैवर = श्रेष्ठ घोड़ा। ९८. आप = भगवान।

———

नरहरि

महापात्र नरहरि बंदीजन (सन् १५०५-१६१० ई०) का जन्म रायबरेली जिले के पखरौली गाँव में हुआ था। ये संस्कृत और फ़ारसी के अच्छे ज्ञाता तथा ब्रजभाषा के कवि थे। बाबर, 'हुमायूँ, शेरशाह, सलीम शाह तथा रीवाँ नरेश रामचंद आदि कई लोगों से समय-समय पर इनका सम्पर्क रहा; किंतु इन्हें सबसे अधिक प्रतिष्ठा अकबर के दरबार में मिली। 'महापात्र' उपाधि इन्हें अकबर से ही मिली थी। कहा जाता है कि एक बार किसी कसाई के हाथ से छूट कर एक गाय इनके घर में जा छिपी। इन्हें उस पर बड़ी दया आई और इन्होंने उसे कसाई को देने से इनकार किया। साथ ही एक छप्पय लिखकर उस गाय के गले में लटका कर अकबर के सामने उसे पेश किया। छप्पय था—

अरिहुँ देत तृन धरैं, ताहि मारत न सबल कोइ।
हम संतत तृन चरहिं, बचन उच्चरहिं दीन होइ।
अमृत पय नित स्रवहिं, बच्छ महि थंमन जावहिं।
हिंदुहि मधुर न देहिं, कटुक तुरुकहिं न पियावहिं॥
कह कवि 'नरहरि' अकबर सुनो, बिनवत गउ जोरे करन।
अपराध कौन मोहिं मारियत, मुयहु चाम सेवइ चरन॥

कहते हैं कि अकबर ने उसके बाद से अपने राज्य में गोबध बंद करवा दिया।

नरहरि के नाम से तीन पुस्तकें प्रसिद्ध हैं—(१) रुक्मिणी मंगल, (२) छप्पय नीति, (३) कवित्त-संग्रह। इनमें अब तक केवल प्रथम पुस्तक रुक्मिणी मंगल ही मिल सकी है। शेष दो का पता नहीं है। यों इनके फुटकर छप्पय, सवैये, दोहे, कवित्त तथा सोरठे आदि बहुत से मिलते हैं। सम्भव है 'छप्पय नीति' तथा कवित्त-संग्रह के ही कुछ भाग आज छप्पय तथा कवित्त रूप में उपलब्ध हैं और शेष खो गए हैं। यों इनको उपलब्ध छप्पयों की संख्या ६० है किंतु कवित्त केवल चार ही मिले हैं।

नरहरि के प्राप्त साहित्य में उनकी नीति तथा उपदेश की कविताओं का ही स्थान प्रमुख हैं। इन्होंने नीति-साहित्य की केवल परम्परागत बातों को ही नहीं लिया है, इनकी कविताओं को पढ़ने से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि इनके द्वारा कही गई अधिकतर बातें अनुभूतिजन्य है, इसी कारण उनमें शक्ति भी है, किन्तु उसमें रहीम और वृंद जैसे सूक्तित्व का अभाव है। हाँ, शब्दावृत्ति आदि के द्वारा इन्होंने अपने छंदों को प्रभविष्णु बनाने का पूरा प्रयास किया है। इनकी भाषा प्रमुखतः अवधी है। कहा जाता है कि नरहरि ने अपने नीति छंदों की या 'छप्पय नीति' ग्रन्थ की रचना अकबर के लिए उसके सिंहासन पर बैठने के पूर्व की थी। यही कारण है कि अधिकतर छप्पयों में 'अकबर' को सम्बोधित किया गया है। इनकी नीति कविता के प्रधान विषय नारी, राजा, शठ, लोभ, मित्र, दुर्जन, प्रजा, दान, प्रेम, कृपिण, तथा व्यवहार आदि हैं।

नीचे इनके कुछ नीति छंद दिये जा रहे हैं—

शिथिल मूल दृढ़ करे फूल तोरे जल सिंचै।
ऊरध डार नवाय डार गहि ऊरध खिंचै॥
जै मलीन मुरझाय तिन्हैं दै टेक सँभारै।
कूड़ा कंटक गलित पत्र चुनि बाहर डारै॥

लघु वृद्ध करै 'नरहरि' कहत बाग सँभारै फल भखै।
माली समान नृप चतुर जो सो सम्पति विलसै अखै ॥ १ ॥

शठ सनेह जे करहिं मान बेचहिं जे लोभ कहँ।
पिय वियोग सुख चहँहि साँकरे तजहि स्वामि कहँ ॥
नृपति मित्र कर गनहिं खेल दुर्जन सँग खेल्लहिं।
मन बंधहि पररमनि सर्प मुख अंगुल मेल्लहिं ॥
चुक्कहि ते समय नरहरि निरखि, जड़ आगे विस्तरहिं गुनु।
पछिताहि ते 'नरहरि' भक्ति बिन सुछितिपति अकबर शाह सुनु ॥ २ ॥

कबहुँक काजु साजु सुष संपति, कबहुँक विपति विषम दुष पैए।
लिषे लिलाट पट्ट विधि आखर, मिटहिं न कोटि जतन धपि धैए ॥
नरहरि नर नरपति सुनहुँ अब बिन हरि भगति अंत पछितैए।
बित के घटे घटतु नाहि नरु, साहसु सत्य घटे घटि जैए ॥ ३ ॥

नरहरि जप तप नेम व्रत सबु सबही ते होइ।
प्रीति निबाहन एक रस, नहिं समरथ कलि कोइ ॥ ४ ॥

ज्ञानवान हठ करै, निधन परिवार बढ़ावै।
बँधुआ करै गुमान, धनी सेवक ह्वै धावै ॥
पण्डित किरियाहीन, राँड दुरबुद्धि प्रमाने।
धनी न समझे धर्म, नारि मरजाद न माने ॥
कुलवंत पुरुष कुल विधि तजै, बन्धु न माने बन्धु हित।
संन्यास धारि धन संग्रहै, ये जग में मूरख विदित ॥ ५ ॥

को सिखवत कुलवधू, लाज गृह-काज रंग रति।
हंसन को सिक्खवत, करन पय पान भिन्न गति ॥
सज्जन को सिक्खवत, दान अरु शील सुलच्छन।
सिहन को सिक्खवत, हनन गज कुंभ ततच्छन ॥
विधि रच्यो जानि 'नरहरि' निरखि कुल सुभाव को मिट्टवै।
गुण धर्म अकब्बर साह सुन, को नर काको सिक्खवै ॥ ६ ॥

बैर धनी निरधनी, बैर कायर अरु सूरहिं।
घृत मधुमाखी बैर, बैर निम्मूहिं कपूरहिं ॥
मूसे सर्पहिं बैर, बैर पावक अरु पानी।
जरा जोबना बैर, बैर मूरख अरु ज्ञानी ॥
बड़ बैर मोर जिमि चन्द मन, बिरहिन बैर बंसत सों।
'नरहरि' सुकब्बि कब्बित किय, मंगन बैर अदत्त सों ॥ ७ ॥

न कछु क्रिया बिन विप्र, न कछु कायर जिय छत्री।
न कछु नीति बिन नृपति, न कछु अच्छर बिन मंत्री ॥
न कछु बाम बिन धाम, न कछु गथ बिन गरुआई।
न कछु कपट को हेत, न कछु मुख आप बड़ाई ॥
न कछु दान सनमान बिन, न कछु सुभोजन जासु दिन।
जन सुनो सकल 'नरहरि' कहत, न कछु जनम हरि-भगति बिन ॥ ८ ॥

सरवर नीर न पीवहीं, स्वाति बूंद की आस।
केहरि कबहुँ न तृन चरै, जो व्रत करै पचास ॥

जो व्रत करै पचास, विपुल गज्जूह बिदारै।
धन ह्वै गर्ब न करै, निधन नहि दीन उचारै॥
'नरहरि' कुल क सुभाव, मिटै नहि जब लग जीवै।
बरु चातक मरि जाय, नीर सरवर नहिं पीवै॥ ९॥

सर सर हंस न होत, बाजि गजराज न दर दर।
तर तर सुफर न होत, नारि पतिव्रता न घर घर॥
मन मन सुमति न होत, मलै गिर होत न बन बन।
फन फन मनि नहि होत, मुक्त जल होत न घन-घन॥
रन रन सूर न होत हैं, जन जन होत न भक्ति हरि।
नर सुनो सकल 'नरहरि' कहत, सब नर होत न एक सरि॥ १०॥

कबहुँ द्वार प्रतिहार, कबहुँ दर दर फिरंत नर।
कबहुँ देत धन कोटि, कबहुँ कर तर करंत कर॥
कबहुँ नृपति मुख चहत, कहत करि रहत बचन बस।
कबहुँ दास लघु दास, करत उपहास जिभ्य रस॥
कछु जानि न सम्पति गर्बिय, विपति न यह उर आनिये।
हिय हारि न मानत सतपुरुष, 'नरहरि' हरिहिं सँभारिये॥ ११॥

नारि सो धिकु जेहि पुरुष न रम्में,
पुरुष सो धिकु जीवन अपकारी।
वचन सो धिकु जो बोलि पलट्टिय,
दानि सो धिकु जो करकस भारी॥
प्रभु सो धिकु जो कृत गुन मेटत,
जथा सकति बोल्लत कहि गारी।
नरु सो धिक्कु जीवन धिकु 'नरहरि'
जिन केवल हरि भक्ति विसारी॥ १२॥

अर्थ-संकेत

१. अखै=अक्षय। २. लोभ कहँ=लोभ के लिए। ३. धपि धैए=दौड़-धूप करने पर। ४. बँधुआ=ऋणी। ७. निम्मूहि=नीबू से। ८. गथ=धन। ९. गज्जूह=हाथियों के झुण्ड। १०. मुक्त जल=स्वाति नक्षत्र का जल। सरि=समान। ११. प्रतिहार=द्वारपाल।

रत्नावली

तुलसीदास की स्त्री रत्नावली के नाम से, तथा तुलसी को सांसारिकता से विमुख कर ईश्वरोन्मुख करने की उनकी कहानी से हिन्दी-संसार अपरिचित नहीं है। कुछ विद्वानों का इसमें विश्वास नहीं है किन्तु इससे संबद्ध सारी सामग्री देखने पर इसे अविश्वास की दृष्टि से देखना प्रायः कठिन-सा हो जाता है और इस कथा से किंवदंती-सुलभ अतिशयोक्ति हटा कर शेष बातें स्वीकार ही करनी पड़ती हैं।

पं० मुरलीधर चतुर्वेदी (जन्म सन् १६९२ ई०) रचित 'रत्नावली चरित' के अनुसार रत्नावली का जन्म 'बदरिया' नामक स्थान में सन् १५२० ई० में हुआ था। इनके पिता का नाम दीनबंधु पाठक तथा माता का नाम दयावती था। रत्नावली आरम्भ से ही बड़ी प्रखर बुद्धि थीं तथा बड़े होने पर अपने भाइयों के साथ उन्होंने संस्कृत का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। रत्नावली का विवाह तुलसीदास से हुआ और इन्हें 'तारापति' नामक पुत्र भी हुआ जो अधिक दिन तक जीवित न रह सका। इनका देहावसान १५९४ ई० में ७४ वर्ष की अवस्था में हुआ।

रत्नावली के लिखे २०१ दोहे मिलते हैं, जिनका प्रमुख विषय नीति है। इनमें कुछ का सम्बन्ध तो वचन, संग, लज्जा, यश, मन, धर्म, नम्रता आदि सामान्य नीति से है किन्तु अधिकांश का सम्बन्ध नारी जीवन विषयक नीति से है, जिसमें गृहकाज, स्त्री के लिये आवश्यक गुण, पति की आज्ञा का पालन, ससुराल के बड़े-छोटों का ध्यान आदि प्रमुख हैं।

इनके नीति के दोहों पर संस्कृत के श्लोकों का पर्याप्त प्रभाव है। कुछ तो अनुवाद जैसे हैं। किंतु ऐसे दोहे भी पर्याप्त हैं जो इनके पूर्णतः अपने हैं और विचार तथा कला की दृष्टि से नीति के किसी भी उच्च कवि से टक्कर ले सकते हैं।

इनकी भाषा ब्रज है। नीति-काव्य में प्रयुक्त होने वाले दृष्टान्त, उदाहरण आदि अलंकारों के सुन्दर प्रयोग से इनकी अभिव्यक्ति में पर्याप्त शक्ति आ गई है। इनके अप्रस्तुत प्रायः दैनिक जीवन की वस्तुओं से या इनके अपने जीवन से लिए गए हैं।

नीचे इनकी दोहावली के कुछ दोहे दिए जा रहे हैं—

नारि सोइ बड़भागिनी, जाके पीतम पास।
लषि लषि चष सीतल करै, हीतल लहै हुलास ॥ १ ॥

असन बसन भूषन भवन, पिय बिन कछु न सुहाय।
भार रूप जीवन भयो, छिन छिन जिय अकुलाय ॥ २ ॥

पिय साँचो सिंगार तिय सब झूँठे सिंगार।
सब सिंगार रतनावली, इक पिय बिनु निस्सार ॥ ३ ॥

नेह सील गुन बित रहित, कामी हूँ पति होय।
रतनावलि भलि नारि हित, पुज्जदेव सम सोय ॥ ४ ॥

पितु पति सुत सों पृथक रहि, पाव न तिय कल्यान।
रतनावलि पतिता बनति, हरति दोउ कुल मान ॥ ५ ॥

पति सनमुख हँसमुष रहति, कुसल सकल गृह-काज ।
रतनावलि पति सुषद तिय, धरति जुगल कुल लाज ।। ६ ।।
जो मन बानी देह सों, पियहिं नाहिं दुष देति ।
रतनावलि सो साधवी, धनि सुष जग जस लेति ।। ७ ।।
पति के जीवत निधन हूँ, पति अनरूचत काम ।
करति न सो जग जस लहति, पावति गति अभिराम ।। ८ ।।
रतनावलि पति सों अलग, कह्यो न बरत उपास ।
पति सेवत तिय सकल सुष, पावति सुरपुर वास ।। ९ ।।
दीन हीन पति त्यागि निज, करति सुपति परबीन ।
दो पति नारि कहायधिक, पावति पद अकुलीन ।। १० ।।
धिक सो तिय पर-पति भजति, कहि निदरत जग लोग ।
बिगरत दोऊ लोक तिहि, पावति विधवा जोग ।। ११ ।।
जाके कर में कर दयो, मात पिता वा भ्रात ।
रतनावलि सह वेद बिधि, सोइ कह्यो पति जात ।। १२ ।।
पति गति पति बित मीत पति, पति सुर गुर भरतार ।
रतनावलि सरबस पतिहि, बंधु वंद्य जगसार ।। १३ ।।
को जाने रतनावली, पिय बियोग दुष बात ।
पिय बिछुरन दुष जानतीं, सीय दमैंती मात ।। १४ ।।
रतनावलि भवसिंधु मधी, तिय जीवन की नाव ।
पिय केवट बिनु कौन जग, पेइ किनारे लाव ।। १५ ।।
रतनावलि मुष बचन हूँ, इक सुष दुष को मूल ।
सुष सरसावत वचन मधु, कटु उपजावत सूल ।। १६ ।।
मधुर असन जनि देउ कोउ, बोलौ मधुरे बैन ।
मधु भोजन छिन देत सुष, बैन जनम भरि चैन ।। १७ ।।
रतनावलि काँटो लग्यो, बैदनु दयो निकारि ।
बचन लग्यो निकस्यौ न कहुँ, उन डारो हियकारि ।। १८ ।।
वारी पितु आधीन रहि, जीवन पति आधीन ।
बिनु पति सुत आधीन रहि, पतित होति स्वाधीन ।। १९ ।।
उद्यापन तीरथ बरत, जोग जग्य जप दान ।
रतनावलि पति सेव बिन, सबहि अकारथ जान ।। २० ।।
रतनावलि न दुषाइये, करि निज पति अपमान ।
अपमानित पति के भये, अपमानित भगवान ।। २१ ।।
सात पैग जा संग भरे, ता संग कीजै प्रीति ।
सब बिधि ताहि निबाहिये, रतन बेद की रीति ।। २२ ।।
बिनु पति पति जगपति सुमिरि, साक मूल फल षाइ ।
बिरमचरज ब्रत धारि तिय, जीवन रतन बनाइ ।। २३ ।।
जुवक जनक जामात सुत, ससुर दिवर अरु भ्रात ।
इनहुँ की एकांत बहु, कामिनि सुनि जनि बात ।। २४ ।।

घी को घट है कामिनी, पुरुष तपत अंगार।
रतनावलि घी अगिनि को, उचित न सँग विचार ॥ २५ ॥

उदरपाक करपाक तिय, रतनावलि गुन दोय।
सील सनेह समेत तौ, सुरभित सुवरन सोय ॥ २६ ॥

धनि तिय सो रतनावली, पति संग दाहें देह।
जौ लों पति जीवत जिये, मूरत मरें पति नेह ॥ २७ ॥

पति के सुष सुष मानती, पति दुष देषि दुषाति।
रतनावलि धनि द्वैत तजि, तिय पिय रूप लषाति ॥ २८ ॥

कूर कुटिल रोगी ऋनी, दरिद मन्दमति नाह।
पाइ न मन अनषाइ तिय, सती करति निरवाह ॥ २९ ॥

छनहुँ न करि रतनावली, कुलटा तिय को संग।
तनक सुधाकर संग सों, पलटति रजनी रंग ॥ ३० ॥

रतनावलि उपभोग सों, होत विषय नहि सांत।
ज्यों-ज्यों हवि होमें अनल, त्यों-त्यों बढ़त नितांत ॥ ३१ ॥

पति पितु जननी बंधु हितु, कुटुम परोसि बिचारि।
जथाजोग आदर करै, सो कुलवंती नारि ॥ ३२ ॥

तीरथ न्हान उपास ब्रत, सुर सेवा जपदान।
स्वामि विमुष रतनावली, निसफल सकल प्रमान ॥ ३३ ॥

कन्यादान विभाग अरु, वचनदान जे तीन।
रतनावलि इक वार ही, करत साधु परबीन ॥ ३४ ॥

दुष्ट नारि तिमि मीत सठ, ऊतर दैनो दास।
रतनावलि अहिवास घर, अंतकाल जनु पास ॥ ३५ ॥

धन सुष जन सुष बंधु सुष, सुत सुष सबहि सराहि।
पै रतनावलि सकल सुष, पिय सुष पटतर नाहिं ॥ ३६ ॥

मात पिता सासू ससुर, ननद नाथ कटु बैन।
भेषज सम रतनावली, पचत करत तनु चैन ॥ ३७ ॥

तन मन अन भाजन बसन, भोजन भवन पुनीत।
जो राषति रतनावली, तेहि गावत सुर गीत ॥ ३८ ॥

धन जोरति मितव्यय धरति, घर की वस्तु सुधारि।
सूपकरम आचार कुल, पति रत रतन सुनारि ॥ ३९ ॥

ऊपर सों हरि लेत मन, गाँठि कपट उर माहिं।
बेर सरिस रतनावली, बहु नर नारि लषाहिं ॥ ४० ॥

उर सनेह कोमल अमल, ऊपर लगें कठोर।
नरियर सम रतनावली, दीसहिं सज्जन थोर ॥ ४१ ॥

भीतर बाहर एक से, हितकर मधुर सुहायँ।
रतनावलि फल दाष से, जन कहुँ कोउ लषायँ ॥ ४२ ॥

रतनावलि छनहूँ जियै, धरि परहित जस ध्यान।
सोई जन जीवत गनहुँ, अनि जीवत मृत मान ॥ ४३ ॥

रतनावलि धरमहि रषत, ताहि रषावत धर्म ।
धरमहि पातति सो पतति, जेहि धरम को मर्म ॥ ४४ ॥

विष अपजस पीऊष जस, रतनावली निहारि ।
जियत मरें लहि मृत जिएँ, विष तजि अमिरत धारि ॥ ४५ ॥

उदय भाग रवि मीत बहु, छाया बड़ी लषाति ।
अस्त भए निज मीत कहँ, तनु छाया तजि जाति ॥ ४६ ॥

दान भोग अरु नास जे, रतन सु धनगति तीन ।
देत न भोगत तासु धन, होत नास में लीन ॥ ४७ ॥

तरुनाई धन देह बल, बहु दोषनु आगार ।
बिनु बिबेक रतनावली, पसु सम करत विचार ॥ ४८ ॥

रतन न पर दूषन उगटि, आपन दोष निवारि ।
तोहि लषें निरदोष वे, दें निज दोष बिसारि ॥ ४९ ॥

करहु दुषी जनि काहु को, निदरहु काहु न कोय ।
को जाने रतनावली, आपनि का गति होय ॥ ५० ॥

कबहूँ नारि उतार सों, करिय न बैर सनेह ।
दोउ विधि रतनावली, करत कलंकित एह ॥ ५१ ॥

सस्त्र सास्त्र बीना तुरग, बचन लुगाई लोग ।
पुरुष बिशेषहि पाइ जे, बनत सुजोग अजोग ॥ ५२ ॥

फूलि फलहि इतराइ षल, जग निदरहि सतराय ।
साधु फूलि फलि नइ रहें, सब सो नइ बतराय ॥ ५३ ॥

ज्यों ज्यों दुष भोगत तसहि, दूरि होत तव पाय ।
रतनावलि निरमल बनत, जिमि सुबरन सहि ताप ॥ ५४ ॥

आलस तजि रतनावली, जथासमय करि काज ।
अबको करिबो अबहि करि, तबहि पुरैं सुष साज ॥ ५५ ॥

करमचारि जन सों भली, जथाकाज बतरानि ।
वहु बतानि रतनावली, गुनि अकाज की षानि ॥ ५६ ॥

मन बानी अरु करम में, सतजन एक लषायँ ।
रतन जोइ विपरीत गति, दुरजन सोइ कहायँ ॥ ५७ ॥

कहि अनुसंगी बचन हूँ, परिनति हिये बिचारि ।
जो न होइ पछिताउ उर, रतनावलि अनुहारि ॥ ५८ ॥

रतन दैवबस अमृत विष, विष अमिरत बनि जात ।
सूधी ह्व उलटी परै, उलटी सूधी बात ॥ ५९ ॥

रतनावलि औरै कछू, चहिय होइ कछु और ।
पाँच पैंड आगे चलै, होनहार सब ठौर ॥ ६० ॥

जानि परै कहुँ रज्जु अहि, कहुँ अहि रज्जु लषात ।
रज्जु रज्जु अहि अहि कबहुँ, रतन समय का बात ॥ ६१ ॥

सब रस रस इक ब्रह्म रस, रतन कहत बुध लोय ।
पै तिय कहँ पिय प्रेम रस, बिंदु सरिस नहि सोय ॥ ६२ ॥

बन बाघिनि आमिष भकति, भूषी घास न खाइ।
रतन सती तिमि दुष सहति, सुष हित अघ न कमाइ ॥ ६३ ॥

विपत कसौटी पै विमल, जासु चरित दुति होय।
जगत सराहन जोग तिय, रतन सती है सोय ॥ ६४ ॥

वारेपन सों मातु-पितु, जैसी डारत बानि।
सो न छुटाये पुनि छुटत, रतन भयेहुँ सयानि ॥ ६५ ॥

हँसन, कसन, हिचकन छिनक, अँगड़न ऊँचे बैन।
गुरुजन सनमुष भल न निज, ऊँचे आसन नैन ॥ ६६ ॥

सदन भेद तन धन रतन, सुरति सुभेषज अन्न।
दान धरम उपकार तिमि, राषि वधू परछन्न ॥ ६७ ॥

भूषन रतन अनेक नग, पै न सील सम कोइ।
सील जासु नैनन बसत, सो जग भूषण होइ ॥ ६८ ॥

स्वजन सषी सों जनि करहु, कबहूँ ऋन ब्यौहार।
ऋन सों प्रीति प्रतीति तिय, रतन होति सब छार ॥ ६९ ॥

जो न लाभ अनुसार जन, मित व्यय करहिं विचारि।
ते पाछें पछितात अति, रतन रंकता धारि ॥ ७० ॥

देति मंत्र सुठि मीत सम, नेहिनि मातु समान।
सेवति पति दासी सरिस, रतन सुतिय धनि जान ॥ ७१ ॥

वचन आपनो सत्य करि, रतन न अनिरत भाषि।
अमृत भाषिबो पाप पुनि, उठति लोक सों साषि ॥ ७२ ॥

सुजन बचन सरिता समय, रतन बान अरु प्रान।
गति गहि जे नहिं बाहुरत, तुपक गुटी परिमान ॥ ७३ ॥

सुजस जासु जौलों जगत, तौलों जीवत सोय।
मारे हू मरत न रतन, अजस लहत मृत होय ॥ ७४ ॥

रतन करहु उपकार पर, चहहु न प्रति उपकार।
लहहिं न बदलो साधुजन, बदलो लघु ब्यौहार ॥ ७५ ॥

परहित जीवन जासु जग, रतन सफल है सोइ।
निज हित कूकर काक कपि, जीवहिं का फल होइ ॥ ७६ ॥

सोइ सनेही जो रतन, करहिं विपति में नेह।
सुष संपति लषि जन बहुरि, बनें नेह के गेह ॥ ७७ ॥

परहित करि बरनत न बुध, गुपत रषहिं दै दान।
पर उपकृत सुमिरत रतन, करत न निज गुनगान ॥ ७८ ॥

भलें होइ दुरजन गुनी भली न तासौ प्रीति।
विषधर मनिधर हू रतन, डसत करत जिमि भीति ॥ ७९ ॥

भल इकिलो रहिबो रतन, भलो न षल सहवास।
जिमि तरु दीमक सँग लहै, आपन रूप बिनास ॥ ८० ॥

रतन बांझ रहिबो भलौ, भले न सौउ कपूत।
बाँझ रहे तिय एक दुष, पाइ कपूत अकूत ॥ ८१ ॥

कुल के एक सपूत सों, सकल सपूती नारि।
रतन एक ही चँद जिमि, करत जगत उजियारि ॥ ८२ ॥

रतन जनक धन ऋन उऋन, बहु जग जन गन होइ।
पै जननी ऋन सो उऋन, होइ बिरल जन कोइ ॥ ८३ ॥

तन धन जन बल रूप को, गरब करौ जनि कोय।
को जानै बिधि गति रतन, छन में कछु कछु होय ॥ ८४ ॥

जो जाको करतब सहज, रतन करि सकै सोय।
वावा उचरत ओंठ सों, हा हा गल सों होय ॥ ८५ ॥

अर्थ-संकेत

१. हीतल=हृदय-तल। ८. निधन=मृत्यु। १४. दमैती=दमयंती। २३. बिरम-चरज=ब्रह्मचर्य। २८. द्वैत=दो या अलगाव की भावना। २९. नाह=पति। अनषाइ=बुरा मानती। ३४. विभाग=दायभाग। ३६. सराहिं=सराहना करते हैं। ३९. सूपकरम–पाकशास्त्र। ४२. दाष=अंगूर। ४३. अनि जीवत=अन्य प्रकार से जीते हुए को। ४४. पातति=गिराता है। ४९. उगटि=उद्घाटितकरो। ५१. नारि उतार=व्यभिचारिणी। ५३. सतराय=विरोध करते हैं। ५८. अनुसंगी=प्रसंगानुकूल। ५९. दैव=भाग्य। ५३. आमिष=मांस। भकति=खाती है। ६६. कसन=खाँसना। अंगड़न=अँगड़ाई लेना। नैन=रखना। ६७. परछन्न=छिपा हुआ। ७३. बहुरत--बाहुरता, लौटता। तुपक=बंदूक। गुटी=गोली। ७७. बहुरि=फिर। ८१. अकूत=अत्यधिक।

टोडरमल

टोडरमल (१५२३-१५८९ ई०) अकबरी दरबार के प्रसिद्ध व्यक्तियों में थे। पहले ये शेरशाह के दरबार में थे, किन्तु उस राजवंश के समाप्त हो जाने पर ये अकबर के यहाँ आ गए थे।

टोडरमल हिसाब-किताब तथा भूमिकर के मामलों में बड़े पटु थे पर साथ ही हिन्दी कविता में भी इनकी रुचि थी। आपकी लिखी कोई पुस्तक तो अभी तक नहीं मिली है, पर फुटकल छंद बहुत से मिलते हैं। इन छंदों में, कुछ के विषय तो इनके अपने विषय हुंडी, आढ़तिया के लक्षण, सराफ़ा तथा बहीखाता आदि हैं, किन्तु शेष में नीति और उपदेश की बातें हैं।

टोडरमल की नीति कविता में काव्य-सौंदर्य बिल्कुल नहीं है। उसे तुकबंदी कहा जा सकता है, पर उसमें जो बातें कही गई हैं वे बड़ी ही अनमोल तथा अनुभवपूर्ण हैं। आप के विभिन्न छंदों में वेश्या, सूम, राजा, दान, धर्म, नारी, पुत्र, ब्राह्मण, धन, क्षत्रिय तथा पुरुष आदि के विषय में नीति की बातें कही गई हैं। टोडरमल में कहीं कोई मौलिकता नहीं है। नीति धारा की पिटी-पिटाई बातों का उन्होंने अपने शब्दों में कह भर दिया है। इनके यहाँ तीन छंद दिए जा रहे हैं।

जार को विचार कहाँ, गनिका को लाज कहाँ, गदहा को पान कहाँ, आँधरे को आरसी।
निर्गुणी को गुण कहाँ, दान कहाँ दालिद्री को, सेवा कहाँ सूम की, अरंड की सी डार सी॥
मद्यपी को सुचि कहाँ, साँचु कहाँ लंपटी को, नीच को बचन कहाँ स्यार की पुकार सी।
टोडर सुकवि ऐसे हठी तें न टारयो टरै, भावै कहौ सूधी बात भावै कहौ फारसी॥ १॥

राजा वही जाको राज सराहिये, काज वही सो उछाह सों कीजै।
धारा वही सो सदा रहै चंचल, जोरा वही सो सुगन्धि सों भीजै।
बात वही सो सदा निबहै कवि टोडर मानि इहीं सिष लीजै।
फौज वही सो रहै तैयार औ मौज वही सो मगाय कै दीजै॥ २॥

गुन बिनु धन जैसे गुरु बिनु ग्यान जैसे मान बिनु दान जैसे जल बिनु सर है।
कंठ बिनु गीत जैसे हित बिनु प्रीति जैसे, बेस्या रस रीति जैसे फल बिनु तरु है।
तार बिनु जंत्र जैसे स्याने बिनु मंत्र जैसे, पुरुष बिनु नारि जैसे, पुत्र बिनु घरु है।
टोडर सुकवि जैसे मन में विचारि देखो धर्म बिनु धन जैसे, पंक्षी बिनु पर है॥ ३॥

— —

बीरबल

अकबर के नवरत्नों में बीरबल (१५२८—१५८५ ई०) सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। बीरबल इनका यथार्थ नाम नहीं था। यह अकबर द्वारा दी गई उपाधि थी। इनके यथार्थ नाम के संबन्ध में विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न बातें लिखी हैं। मुंशी देवी प्रसाद के अनुसार इनका नाम 'ब्रह्मदास', बदाउनी के अनुसार 'ब्रह्मदत्त', तथा गियर्सन के अनुसार 'ब्रह्म' था, किन्तु 'आइने-अकबरी' में इनका वास्तविक नाम 'महेशदास' दिया गया है। कुछ अन्य आधारों पर भी इसी की पुष्टि होती है। अतः कहा जा सकता है कि 'महेशदास' ही इनका वास्तविक नाम था और सामान्यतः इन्हें लोग 'बीरबल' कहते थे। हाँ इन्होंने कविता में अपना नाम 'ब्रह्म' रखा है। इनकी लिखी बहुत अधिक कविताएँ तो नहीं मिलतीं, किन्तु इनके दरबारी जीवन के आरम्भ में ही अकबर द्वारा इन्हें 'कविराय' की 'उपाधि' मिली थी।[1] साथ ही संस्कृत के प्रसिद्ध श्लोक—

उपमा कालिदासस्य भारवेर्थ गौरवम्।
दंडिनः पद लालित्यं माघे संति त्रयो गुणाः ।।

की वज़न पर—

उत्तम पद कवि गंग के उपमा में बलबीर।
केशव अर्थ गम्भीरता सूर तीन गुनधीर ।।

भी प्रसिद्ध हैं। अतः यह अनुमान लगाना अनुचित नहीं है कि बीरबल की कविता उच्च कोटि की थी, हाँ उसका अधिकांश भाग सम्भवतः आज खो गया है। बीरबल लिखित कुल लगभग २०० छंद मिले हैं, जिनमें नीति तथा उपदेश के भी छंद हैं। इनके नीति के छंदों में काव्य-सौंदर्य तो प्रायः नहीं के बराबर हैं किन्तु बातें बड़ी ही व्यावहारिक तथा अनुभवपूर्ण हैं। ईश्वर पर विश्वास रखने तथा चिन्ता न करने के विषय में उनका एक प्रसिद्ध छंद है जो बहुत काव्यात्मक न होने पर भी सुन्दर है—

जब दाँत न थे तब दूध दियो अब दाँत भये कहा अन्न न देहै।
जीव बसें जल में, थल में, तिनकी सुधि लेइ सो तेरी हूँ लैहै।
जान को देत अजान को देत, जहान को देत सो तोहूँ को देहै।
काहे को सोच करै मन मूरख सोच करे कछु हाथ न ऐहै ।।

इसी प्रकार झुकने या सविनय रहने के विषय में बीरबल कहते हैं—

नमे तुरी बहुतेज नमे दाता धन देतो।
नमे अंब बहु फल्यो नमे जलधर बरसेतो।
नमे सुकवि जन शुद्ध नमे कुलवंती नारी।
नमे सिंह गज हने नमे गज बैल सम्हारी।
कुंदन इमि कसियो नमे वचन ब्रह्म सच्चा भनै।
पर सूखा काठ अजान नर टूट पड़े पर नहिं नमे ।।

हम देखते हैं कि रीतिकालीन कविताओं की भाँति बीरबल ने अपनी नीति कविताओं में अन्तिम पंक्ति पर ही अधिक बल दिया है तथा अपनी प्रधान नीति की बातें नहीं रक्खी हैं। इनकी नीति कविता के प्रधान विषय जीवन की अस्थिरता, चिन्ता, विनय, मूर्ख, पेट

१. अकबर के दरबार के हिन्दी कवि, पृ० १५३

मन, मित्र, भाग्य, काल तथा संग आदि हैं। इनके कुछ अन्य छंद हैं—

पेट ते आयो तु पेट को धावत हार्‌यो न हेरत घामरु छाँही।
पेट दियो जिहि पेट भरे सोइ, ब्रह्म भनै कहुँ औरु न जाहीं।
पेट पर्‌यो सिख देतहि देत रे पापिउ पेटहि पेट समाहीं।
पेट के काज फिरे दिन राति सु पेटउ से परमेसुर नाहीं॥ १॥

पूत कपूत कुलच्छनि नारि लराक परोस लजाय न सारो।
बन्धु कुबुद्धि पुरोहित लम्पट चाकर चोर अतथि धुतारो॥
साहब सूम अराक तुरंग किसान कठोर दिवान नकारो।
ब्रह्म भनै सुन शाह अकब्बर बारहो बाँधि समुद्र में डारो॥ २॥

पेट में पौंढ़ के पौंढ़े मही पर पालना पौंढ़ के बाल कहाये।
आई जबै तरुनाई लिया संग सेज पै पौढ़ के रंग मँचाये॥
छीर समुद्र के पौढ़नहार को 'ब्रह्म' कबौ चित में नहि ध्याये।
पौंढ़त पौंढ़त पौंढ़त ही सो चिता पर पौढ़न के दिन आये॥ ३॥

इक छत्र की छाँह विनोद करै, इक धान के काज फिरै जु दुखारी।
एक लिया बहु पुत्र रमैं, एक बाँझ रहै, होत ऐसी हूँ नारी।
एक चंचल तेज तुरंग चढ़ै इक मांगत भीख फिरै जु दुखारी।
ब्रह्म भनै गिर मेरु टरै पर कर्म की रेख टरै नहि टारी॥ ४॥

टूटे पर ईख ताकी मिस्त्री गुड कंद करो,
ताको लै प्रभाव देव देविन चढ़ाइये।
फूट के कपास पत राखत हैं आलम की।
ताको होत वस्त्र कहाँ लौं गिनाइये।
सड़े जब सन ताके स्वेत वनै कागज है,
तापर कुरान औ पुरानहू लिखाइये।
कहैं कवि 'ब्रह्म' सुनो अकबर बादसाह,
टूटे फूटे सड़े ताको या विधि सराहिये॥ ५॥

———

देवीदास

देवीदास मारवाड़ के निवासी तथा अकबर के समकालीन थे। ये जाति के वैश्य थे। राजस्थान के शेखावटी के राव लूणकरण के यहाँ ये मंत्री थे। संयोग से एक दिन लूणकरण से 'बुद्धि और धन में कौन बड़ा है' इस बात पर इनका विवाद हो गया। लूणकरण को क्रोध आ गया और उन्होंने व्यंग्य से देवीदास से कहा कि यदि तुम सचमुच बुद्धि को धन से बड़ी मानते हो तो रायसल के यहाँ जाकर इसकी परीक्षा करो। रायसल लूणकरण के छोटे भाई थे और एक गाँव की जागीर से किसी प्रकार अपनी जीविका चलाते थे। 'देवीदास' चुपचाप वहाँ से चलकर रायसल के यहाँ पहुँचे और पूरी बात उन्हें बतलाई। बाद में देवीदास ने अपनी बुद्धिमत्ता से 'रायसल' को अकबर का कृपापात्र बनवा दिया और अंततः उन्हीं के कारण 'रायसल' एक अच्छे जागीरदार बन गए। इस प्रकार देवीदास ने सिद्ध कर दिया कि बुद्धि धन से बड़ी है और यदि व्यक्ति बुद्धिमान हो तो उसे धन की कमी नहीं रहती। इसके बाद देवीदास दोनों ही भाइयों के सम्मान पात्र रहे। अकबर के यहाँ भी ये सम्मानित होते थे। इनके जीवन के सम्बन्ध में कुछ और अधिक ज्ञात नहीं है।

राजस्थान में नीति के कवि के रूप में लोग इन्हें जानते हैं। हिन्दी प्रदेश के अन्य भागों में लोग इनसे प्रायः अपरिचित हैं। इनका एक 'देवीदास जी रा कवित्त' नाम का ग्रंथ मिलता है, जिसमें सौ कवित्त और सवैये हैं। नागरी-प्रचारिणी सभा की प्रति में इसका नाम 'राजनीति के कवित्त' है, तथा उसमें ११२ छंद हैं। इस ग्रंथ के सभी छन्द नीति के हैं। इनकी कविता सामान्य कोटि की है। इसके प्रमुख विषय राज तथा व्यवहार नीति हैं। इन पर संस्कृत के कवियों का प्रभाव पड़ा है। नीचे इनके कुछ छन्द दिए जा रहे हैं:

कौन यह देस कौन काल कौन बैरी मेरो,
कौन मेरे हितू ताहि ढिग ते न टारिबो।
केतो निज आमद, खरच केतो, केतो बल,
तेहि उनमान बैन मुँह ते निकारिबो,
संपति के आवन को कौन मेरो साधन है,
ताहू को उपाव अरु दाँव उर धारिबो।
राजनीति राजन को प्रतिदिन 'देवीदास',
चारि घरी राति रहे इतनो बिचारिबो॥ १॥

पहले विवाद व्यवहार धन को न कीजे,
जाँचिये न तापे आप माँगे ताहि दीजिये।
मित्र के घरे में घरनी सों मिलि बैठिये न,
हँसिये न दूर बैठि, बात छोर लीजिए।
कोऊ भेद पावै तो न भूलें 'देवीदास' कहै,
मन की दुराइये न ताते भये खीजिये।
प्रीति खोयो चाहिये तो कीजिये परे सों प्रीति,
प्रीति राख्यो चाहिये तो इतनो न कीजिये॥ २॥

कीरति को मूल एक रैन दिन दान देबो,
धरम को मूल एक साँच पहिचानिबो,

बढ़िवो को मूल एक ऊँचो मन राखिबो है,
जानिबो को मूल एक भली बात मानिबो ।
व्याधि मूल भोजन उपाधि मूल हाँसी 'देवि',
दारिद को मूल एक आलस बखानिबो ।
हारिबो को मूल एक आतुरी है रन माहिं,
चातुरी को मूल एक बात कहि जानिबो ॥ ३ ॥

पेट को निपट सुद्ध आँखन लजीलो बीर,
उर को गंभीर होय मीठो होय मुख को ।
बाँह को पगार पुनि पाप को अडिग होय,
बोलन को साँचो 'देवीदास' सूधो रुख को ।
मन को उदार ढीलो हाथ को अकेलो टेक,
काछ ही को काठो है सहैया सुख दुख को ।
पचिकै पितामह ने ऐसो जो सँवारयो तब,
याते कछु औरहु सिंगार है पुरुष को ॥ ४ ॥

छोटे-छोटे फूलन को सूरत की बारि करै,
पतरे से पौधा पानी डारि प्रतिपारिबो ।
फूली फुलवारिन के फूल तोरि लेवै, खरे,
घने दरखत एक ठौर ते उखारिबो,
नीचे परे पायनि तें टेकनि दे ऊँचो करै,
ऊँचे चढ़ गये ते जरूर काटि डारिबो ।
राजन को मालिक को प्रतिदिन 'देवीदास'
चारि घरी राति रहे इतनो विचारिबो ॥ ५ ॥

आरत गुमान करै दारिदी ह्वै सोवै घरै,
सुखी औरै अनुसरै ऐस मूढ़ और हैं ।
ज्ञानी ह्वै प्रपंच राचै,त्यागी ह्वै ग्रही को जाँचै,
राजा ह्वै कृपिनता कै सूम सिरमौर हैं ।
गनिका कुरूप धनवान ह्वै फकीरी करै,
बाँधि कै सिथिल भयो रात दिन जोर है ।
जग में जो बसिये तो हँसिये न काहू 'देवी'
हँस्योई जो चाहै तो ये हँसिबो को ठौर है ॥ ६ ॥

बिनु कहे सब जानै सासन सिर पै मानै,
साहब की मीर मानै मन भाइयतु हैं ।
दुख सुख जो न आनै थोर हो रहै अघानै,
धनी काजे प्रान देइ तेई गाइयतु है ।
निडर में डर राखे, डर में निडर होय,
लाज सों लपेटो रहे छबि छाइयतु है ।
घरी घरी अरजी न करै बरजी न होय,
ऐसे चाकर तो पूरे पुन्य पाइयतु हैं ॥ ७ ॥

बातनि बहनहार वित्त के लहनहार,
अन्तर में कारे और ऊपर तें गोरे हैं ।

जानिये उनहिं थोरे दिन के रहनहार,
देकर कुमंत्र सामी संकट में बोरे हैं।
नाहिन अनीति के सहनहार हम तेरी,
पौरि के रहनहार बाँभन हैं भोरे हैं।
राजन के चित्त के गहनहार घने पर,
देवीदास' हित के कहनहार थोरे हैं ॥ ८ ॥

जिनके उदार चित्त गाँव बीच मित्त पूरे,
गुनवंत सबही के 'देवी' सुखदात हैं।
रूप के उजारे नैन तारनि में राखि लीजै;
बोलनि में मोल लेत ऐसे मुख बात हैं।
साथ लागै सुख फिरैं निराधार दुख फिरैं,
भाग खुलैं जहाँ को तहोंई चलि जात हैं।
कापुरुष गुनहीन दीन मन नीच नर,
बाप की तलाई बीच बैठे कीच खात हैं ॥ ९ ॥

लोभ सो न औगुन, पिसुनता सो पातकु न,
साँच सों न तप नाहिं इरषा सों दहनों।
सुचि सो न तीरथ सुजनता सो सेवक,
डाह सो न रोग तीनि लोक माहँ कहनों।
धरम सों न मीत न दुरित जीवघातन सों,
काम सों प्रबल नाहिं सत्रु सो लहनों।
चिंता सो न साल 'देवीदास' तीनों लोक कहै,
संतोष सा सुख नाहिं कीरति सो गहनों ॥ १० ॥

नीति ही तै धरम धरम तै सकल सिद्धि,
नीति ही ते आदर समाज बिच पाइयै।
नीति ते अनीति छूटै नीति ही ते सुष लूटै,
नीति लिये बोलै बड़ौ वकता कहाइये।
नीति ही तै राज राजनीति ही ते पातसाही,
नीति ही को नौओ षंड बड़ो जस गाइये।
छोटेन कूँ बड़ौ करै बड़ौ महा बड़ो करै,
तातें सब ही कूँ राजनीति ही सुनाइये ॥ ११ ॥

अर्थ-संकेत

१. आमद = आमदनी। २. उनमान = अनुरूप। ३. घरनी = स्त्री। ४. पगार = तनख्वाह। ५. काछ ही को काठो = लंगोटे का पक्का। ७. बरजी = बरजने या मना करने वाला। ९ तलाई = छोटा ताल। १०. दुरित = पाप।

तुलसीदास

तुलसीदास (१५३२-१६२३) हिन्दी साहित्याकाश के सबसे जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं। भक्ति-काव्य, रसकाव्य तथा कथा-काव्य की दृष्टि से तो वे अप्रतिम हैं ही, नीति-काव्य की दृष्टि से भी वे किसी अन्य कवि से पीछे नहीं हैं। सच पूछा जाय तो उन्होंने अपने विभिन्न ग्रन्थों में भारतीय जीवन के इतने बड़े आयाम को इतनी अधिक गहराइयों के साथ समेटा है कि नीति के विभिन्न पक्ष, सहज ही उनमें समाहित हो गये हैं। कई यूरोपीय विद्वानों ने, जो यह बात कही है कि तुलसी विश्व में सबसे बड़े उद्धरणीय कवि हैं—अकारण नहीं है। जीवन का कोई भी प्रसंग हो, कोई भी परिस्थिति हो, हमें बड़ी सरलता से तुलसी में ऐसे छंद या ऐसी पंक्तियाँ मिल जाती हैं जो हमारे लिए प्रकाशस्तंभ का काम करती हैं।

तुलसी के नीति के कथन मुख्यतः रामचरित मानस तथा दोहावली में हैं। यहाँ दोनों से ही, उनके कुछ नीति-छंद तथा नीति-छंदांश दिए जा रहे हैं :

अर्क जवास पात बिनु भयऊ। जस सुराज खल उद्यम गयऊ॥ (कि० १५.२)
अगुनहि सगुनहि नहि कछु भेदा। गावहि मुनि पुरान बुध बेदा॥ (बा० ११६.१)
अघ कि पिसुनता सम कछु आना। धर्म कि दया सरिस हरि जाना॥ (उ० ११२.५)
अति संघरष करै जौ कोई। अनल प्रगट चंदन ते होई॥ (उ० १११.८)
अनुचित उचित बिचारु तजि जे पालहिं पितु बैन।
ते भाजन सुख सुजस के बसहिं अमरपति ऐन॥ (अयो० १७४)
अनुज बधू भगिनी सुत नारी। सुनु सठ कन्या सम ए चारी॥ (कि० ९.४)
अरध तजहिं बुध सरबस जाता। (अयो० २५६.१)
आरत काहि न करइ कुकरमू। (अयो० २०४.४)
आरत कहहिं बिचारि न काऊ। सूझ जुआरिहि आपन दाऊ॥ (अयो० २५८.१)
उदित अगस्त पंथ जल सोषा। जिमि लोभहि सोषइ संतोषा॥ (कि० १६.२)
उपजहिं एक संग जल माहीं। जलज जोंक जिमि गुन बिलगाहीं॥ (बा० ५.३)
ऊसर बरसहिं तृन नहिं जामा। जिमि हरिजन हिय उपज न कामा॥ (कि० १५.५)
ऐसेहि बिनु हरि भजन खगेसा। मिटहिं न जीवन केर कलेसा॥ (उ० ७९.१)
औरु करै अपराधु कोउ और पाव फल भोगु।
अति बिचित्र भगवंत गति को जग जानइ जोगु॥ (अयो० ७७)
कत बिधि सृजी नारि जग माँहीं। पराधीन सपनेहु सुख नाहीं॥ (बा० १०२.३)
करम प्रधान बिस्वकरि राखा। जो जस करिय सो तस फल चाखा॥
(अयो० २१९.२)
करम प्रधान सत्य कहि लोगू। (अयो० ९१.४)
कृषी निरावहि चतुर किसाना। जिमि बुध तजहि मोह मदनाना। (कि० १५.४)
कसै कनकु मनि पारिखि पाए। पुरुष परिखिअहि समय सुभाए॥ (अयो० २८३.३)
कह मुनीस हिमवंत सुन जो बिधि लिखा लिलार।
देव दनुज नर नाग मुनि कोउ न मेटनहार॥ (बा० ६८)
कहहिं बेद इतिहास पुराना। बिधि प्रपंचु गुन अवगुन साना॥ (बा० ६.२)
का वर्षा जब कृषी सुखाने। समय चूकि पुनि का पछताने॥ (बा० २६१.२)
कादर मन कहुँ एक अधारा। दैव दैव आलसी पुकारा॥ (सु० ५१.२)

काटेहि पै कदरी फरइ कोटि जतन कोउ सींच ।
विनय न मान खगेस सुन डाटेहि पै नव नीच ।। (सु० ५८)
काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह के धारि ।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारि ।। (अ० ४३)
काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ । (सु० ३८)
काहु न पावक जरि सकै का न समुद्र समाय ।
का न करै अबला प्रबल केहि जग काल न खाय ।। (अयो० ४७)
काहि न सोक समीर डुलावा । (उ० ७१.२)
काहु न कोउ सुख दुख कर दाता । निज कृत कर्म भोग सब भ्राता ।।(अयो० ९२.२)
काहू की जो सुनहिं बड़ाई । स्वास लेहि जन जूड़ी आई ।। (उ० ४०.१)
कीरति भनिति भूति भल सोई । सुरसरि सम सब कहँ हित होई ।। (बा० १४.५)
केहि कर हृदय क्रोध नहि दाहा । (उ० ७०.४)
केहि न राज मद दीन्ह कलंकू । (अयो० २२९.१)
केहि न सुसंग बड़प्पन पावा । (बा० १०.४)
को न कुसंगत पाहि नसाही । (अयो० २४.४)
को जग काम नचाव न जेहीं । (उ० ७०.४)
को जग जाहि न व्यापी माया । (उ० ७१.२)
कोउ विश्राम कि पाव, तात सहज संतोष बिनु ।
चलइ कि जल बिनु नाव, कोटि जतन पचि-पचि मरइ । (उ० ८९)
खलउ करहि भल पाइ सुसंगू । मिटहिं न मलिन सुभाउ अभंगू ।। (बा० ७.२)
खलन्ह हृदय अति ताप विसेषी । जरहि सदा पर सम्पति देखी ।। (उ० ३९.२)
खोजत कतहु मिलइ नहि धूरी । करइ क्रोध जिमि धर्महि दूरी ।। (कि० १५.२)
गगन चढ़इ रज पवन प्रसंगा । कीचहि मिलै नीच संगा ।। (बा० ७.५)
गरल सुधा रिपु करहिं मिताई । गोपद सिन्धु अनल सितलाई ।। (सु० ५.१)
गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न । (बा० १८)
गुन अवगुन जानत सब कोई । जो जेहि भाव नीक तेहि सोई ।। (बा० ५.५)
गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई । जो विरंचि संकर सम होई ।। (उ० ९३.३)
चिंता सापिन को नहिं खाया । (उ० ७१.२)
चोरहि चंदिनि रात न भावा । (अयो० ११.४)
छिति जल पावक गगन समीरा । पंच रचित अति अधम सरीरा ।। (कि० ११.२)
छुद्र नदी भरि चली तोराई । जस थोरेहु धन खल बौराई ।। (कि० १४.३)
छूटइ मल कि मलहिं के धोए । घृत कि पाव कोउ वारि बिलोए ।। (उ० ४९.२)
जग बौराय राज पदु पाए । (अयो० २२८.४)
जड़ चेतन गुन दोषमय विस्व कीन्ह करतार ।
संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकारि ।। (बा० ६)
जद्यपि जग दारुन दुख नाना । सबते कठिनु जाति अपमाना ।। (बा० ६३.४)
जब काहू कै देखहिं बिपती । सुखी भए मानहुँ जग नृपती ।। (उ० ४०.२)
जब जब होहि धरम कै हानी । बाढ़हि असुर महा अभिमानी ।।
तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा । हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ।। (बा० १२१.४)
जहँ कहु निंदा सुनहिं पराई । हरषहिं मनहुँ परी निधि पाई ।। (उ० ३९.२)
जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते । पिय बिनु तियहिं तरनिहु ते ताते ।। (अयो० ६५.२)

जहाँ सुमति तहँ संपति नाना । जहाँ कुमति तहँ विपति निदाना ।। (सु० ४०.३)
जानि न जाय नारि गति भाई । (अयो० ४७ ४)
जाने बिनु न होय परतीती । बिनु परतीति होय नहिं प्रीती ।। (उ० ८९.४)
जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी । सो नृप अवसि नरक अधिकारी ।। (बा० ११७.४)
जिमि कपूत के उपजे कुल सद्धर्म नसाहिं । (कि० १५)
जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला । (उ० १२२.८)
जे सठ गुरु सन इरिषा करहीं । रौरव नरक कोटि जुग परहीं ।। (उ० १०७.३)
जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू । सो तेहि मिलहिं न कछु संदेहू ।। (बा० २५९.३)
जोबन ज्वर केहि नहिं बलकावा । (उ० ७१.१)
झूठउ सत्य जाहि बिनु जाने । जिमि भुजंग बिनु रज पहिचाने ।। (बा० ११२.१)
टेढ़ जानि सब बंदहिं काहू । वक्र चन्द्रमहिं ग्रसहि न राहू ।। (बा० २८१.३)
ढोल गँवार सूद्र पसु नारी । सकल ताड़ना के अधिकारी ।। (सु० ५९.२)
तुलसी जसि भवतव्यता तैसी मिलाइ सहाय ।
आपु न आवै ताहि पहि ताहि तहाँ लै जाय ।। (बा० १५९)
तृष्ना केहि न कीन्ह बौराया । (उ० ७०.४)
तृषित बारि बिनु जो तनु त्यागा । मुए करहिं का सुधा तड़ागा ।। (बा० २६१.१)
दामिनि दमक रही न घन माहीं । खल कै प्रीति यथा थिर नाहीं ।। (कि० ४१.१)
दुइ कि होहिं एक समय भुआला । हँसब ठठाइ फुलाउब गाला ।। (अयो० ३५.३)
धर्म कि दया सरिस हरि जाना । (उ० १२२.५)
धीरज धर्म मित्र अरु नारी । आपद काल परिखिअहु चारी ।। (अ० ५.४)
धूमउ तजइ सहज करु आई । अगरु प्रसंग सुगन्ध बसाई ।। (बा० १०.५)
नरतनु सम नहिं कवनिउ देही । जीव चराचर जाचत तेही ।। (उ० १२१.५)
नहिं कोउ अस जनमा जग माँही । प्रभुता पाहि जाहि मद नाहीं ।। (बा० ६०.४)
नहिं कलि करम न भगति बिबेकू । राम नाम अबलनु कौ एकू ।। (बा० २८.१)
नहिं कछु दुर्लभ ज्ञान समाना । (उ० ११५.५)
नाथ विषय सम मद कछु नाहीं । मुनि मनमोह करइ छन माँही ।।
(कि० २०.४)
नारि सुभाउ सत्य सब कहहीं । अवगुन आठ सदा उर रहहीं ।
साहस अनृत चपलता माया । भय अविवेक असौच अदाया ।। (लं० १६.१)
निज कवित्त केहि लाग न नीका । सरस होय अथवा अति फीका ।। (बा० ८.६)
निज दुख गिरि सम रज करि जाना । मित्रक दुख रज मेरु समाना ।। (कि० ७०.१)
निज परिताप द्रवइ नवनीता । परदुख द्रवइ संत सुपुनीता ।। (उ० १२५.४)
निज हित अनहित पसु पहिचाना । (अयो० १९.१)
नीति न तजिअ राज पदु पाए । (अयो० १२५.२)
नीति विरोध न मारिय दूता । (सु० २४.४)
पर उपदेश कुसल बहुतेरे । जे आचरहि ते नर न घनेरे ।। (लं० ८७.१)
पर बस जीव स्ववस भगवंता । जीव अनेक एक श्रीकंता ।। (उ० ७८.४)
परहित बस जिन्ह के मन माहीं । तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं ।। (अ० ३१.५)
परहित सरिस धरम नहिं भाई । पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ।। (उ० ४१.१)
परनिंदा सम अघ न गिरीसा । (उ० १२१.११)
फूलइ फरइ न बेंत जदपि सुधा बरषहिं जलद ।

मूरख हृदय न चेत जो गुरु मिलहिं बिरंचि सम ॥ (लं० १६)
बचन वज्र जेहि सदा पियारा । सहस वदन परदोष निहारा ॥ (बा० ६ ४)
बचन परम हित सुनत कठोरे । सुनहिं जे कहहिं ते नर प्रभु थोरे ॥ (लं० ९.)
बड़े भाग मानस तनु पावा । सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा ॥ (उ० ४२ ४)
बंदउ संत समान चित हित अनहित नहिं कोउ ।
अंजलि गत सुभ सुमन जिमि सम सुगंध कर दोउ ॥ (बा० ३)
बरैं बालक एक सुभाऊ । इन्हहि न संत बिदूषहिं काऊ ॥ (बा० २७९.२)
बरु भल बास नरक कर ताता । दुष्ट संग जनि देहि विधाता ॥ (सु० ४६.४)
बरषहिं जलद भूमि निअराए । जथा नवहिं बुध बिद्या पाए ॥ (कि० १४.२)
बहुरि बंदि खल गन सति भाए । जो बिनु काज दाहिने बाएँ ॥ (बा० ४.१)
बाँझ कि जान प्रसव कै पीरा । (बा० ९७.२)
बायस पलिअहि अति अनुरागा । होहिं निरामिष कबहुँ कि कागा ॥ (बा० ५.१)
बारि मथे घृत होय बरु सिकता ते बरु तेल ।
बिनु हरि भजन न भव तरिय यह सिद्धान्त अपेल ॥ (उ० १२२)
विधि वस सुजन कुसंगत परहीं । फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं ॥ (बा० ३.५)
विधिहु न नारि हृदय गति जानी । सकल कपट अघ अवगुन खानी ॥
(अयो० १६२.२)
विधु वदनी सब भाँति संवारी । सोह न बसन बिना बर नारी ॥ (बा० १०.२)
बिमुख राम सुख पाव न कोई । (उ० १२२.१)
बुध नहिं करहिं अधम कर संगा । (उ० १०६.७)
बुंद अघात सहहिं गिरि कैसे । खल के वचन संत सहि जैसे ॥ (कि० १४.२)
बैर प्रेम नहिं दुरय दुराये । (अयो० २६४.१)
बैर प्रीति नहि दुरइ दुराये । (अयो० १९३.१)
बोलहि मधुर बचन जिमि मोरा । खाइ महा अहि हृदय कठोरा ॥ (उ० ३९.४)
भय बिनु होय न प्रीति । (सु० ५७)
भलो भलाई पै लहहि लहहि निचाई नीचु ।
सुधा सराहिअ अमरता गरल सराहिअ मीचु ॥ (बा० ५)
भाय कुभाय अनख आलस हूँ । नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ ॥ (बा० २८.१)
मंगन लहहिं न जिनकै नाहीं । ते नर बर थोरे जग माँहीं ॥ (बा० २३१.४)
ममता केहि कर जस न नसावा । (उ० ७१.१)
महावृष्टि चलि फूटि कियारी । जिमि सुतंत्र भए विगरहिं नारी ॥ (कि० १५ ४)
माया वस कवि कोविद ग्याता । (उ० ६०.२)
मिलइ न जगत सहोदर भ्राता । (लं० ६१.४)
मुखिया मुख सों चाहिए खान पान कहुँ एक ।
पालइ पोषइ सकल अंग तुलसी सहित विवेक ॥ (अयो० ३१५)
मूदें आँखि कतहुँ कोउ नाहीं । (बा० २८०.४)
मोह न नारि नारि के रूपा । पन्नगारि यह रीति अनूपा ॥ (उ० ११६.१)
रहत न आरत के चित चेतू । (अयो० २६९.२)
राखिय नारि जदपि उर माँही । जुबती शास्त्र नृपति बस नाहीं ॥ (अ० ३७.५)
राजु कि रहइ नीति बिनु जाने । (उ० ११२.३)
रिपु रुज पावक पाप प्रभु अहि गनिअ न छोट करि । (अ० २१)
श्रीमद वक्र न कीन्हि केहि प्रभुता वधिर न काहि ।

मृग लोचनि के नैन सर को अस लाग न जाहि ।। (उ० ७०)
स्वारथ मीत सकल जग माँहीं । (उ० ४७.३)
संग्रह त्यागु न बिनु पहिचाने । (बा० ६.१)
सचिव बैद गुरु तीनि जौं प्रिय बोलहिं भय आस ।
राज धर्म तन तीनि कर होय वेगिही नास ।। (सु० ३७)
सठ सुधरहिं सतसंगति पाई । पारस परस कुधातु सुहाई ।। (बा० ३.५)
सबते कठिन राज मदु भाई । (अयो० २३१.४)
सबते सेवक धरम कठोरा । (अयो० २०३.४)
सम प्रकास तम पाख दुहु नाम भेद विधि कीन्ह ।
ससि सोषक पोषक समुझि जग जस अपजस दीन्ह ।। (बा० ७)
समरथ कहु नहि दोषु गोसाईं । रवि पावक सुरसरि की नाईं ।। (बा० ६९.४)
समुझइ खग खग ही कै भाषा । (उ० ६२.५)
सुत वित लोक ईषना तीनीं । केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी ।। (उ० ७१.३)
सुमति कुमति सबके उर रहहीं । नाथ पुरान निगम अस कहहीं ।। (सु० ४० ३)
सुर नर मुनि सबकै यहि रीति । स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती ।। (कि० १२.१)
सूर समर करनी करहिं, कहि न जनावहिं आपु ।
विद्यमान रन पाइ रिपु, कायर कथहि प्रलापु ।। (अयो० २७४)
सेवक सठ नृप कृपन कुनारी । कपटी मित्र सूल सम चारी ।। (कि० ७.५)
सेवा धरमु कठिन जगु जाना । (अयो० २९३.४)
सो न टरै जो रचै विधाता । (बा० ९७.३)
हठ बस सब संकट सहे गालव नहुष नरेस । (अयो० ६१)
हरि इच्छा भावी बलवाना । (बा० ५६.३)
हरित भूमि तृन संकुल, समुझि परहिं नहि पंथ ।
तिमि पाखण्ड विवाद ते लुप्त होंय सद ग्रंथ ।। (कि० १४)
हानि कुसंग सुसंगति लाहू । लोकहु वेद विदित सब काहू ।। (बा० ७.४)
हानि लाभु जीवन मरन जस अपजस विधि हाथु । (आयो० १७१)
हित अनहित पसु पच्छिहु जाना । (अयो० २६४.४)
होइ है सोई जो राम रचि राखा । को करि तर्क बढ़ावहि साखा ।।
(बा० ५२.५२.४)

(रामचरित-मानस से : अकारादि क्रम से)

दिये पीठि पाछे लगे, सन्मुख होत पराय ।
तुलसी सम्पति छाँह ज्यों, लखि दिन बैठि गँवाय ।। १ ।।

सेई सेमर तेइ सुवा, सेवत सदा बसन्त ।
तुलसी महिमा मोह की, सुनत सराहत सन्त ।। २ ।।

हित पुनीत सब स्वारथहि, अरि असुद्ध बिनु चाँड़ ।
निज मुख मानिक समदसन, भूमि परत भो हाड़ ।। ३ ।।

हृदय कपट बर बेष धरि, बचन कहैं गढ़ि-छोलि ।
अब के लोग मयूर ज्यों, क्यों मिलिये मन खोलि ।। ४ ।।

चरन चोंच लोचन रंगे, चले मराली चाल ।
छीर नीर बिबरन समय, बक उधरत तेहि काल ।। ५ ।।

कुसधन सखहिं न देब दुख, मुएहु न मांगव नीच ।
तुलसी सज्जन की रहनि, पावक पानी बीच ॥ ६ ॥

नीच निचाई नहिं तजै, सज्जन हू के संग ।
तुलसी चन्दन बिटप बसि, बिष नहिं तजत भुजंग ॥ ७ ॥

मिथ्या माहुर सुजन कहँ, खलहिं गरल सम साँच ।
तुलसी छुवत पराात ज्यों, पारद पावक आँच ॥ ८ ॥

सन्त संग अपवर्ग कर, कामी भवकर पन्थ ।
कहहिं साधु कवि कोविद, श्रुति पुरान सद्ग्रन्थ ॥ ९ ॥

सुकृत न सुकृती परिहरै, कपट न कपटी नीच ।
मरत सिखावन देइ चले, गीधराज मारीच ॥ १० ॥

सुजन सुतरु बन ऊख सम, खल टंकिका रुखान ।
परहित अनहित लागि सब, सांसति सहत समान ॥ ११ ॥

सुजन कहत भल पोच पथ, पापि न परखे भेद ।
करमानस सुरसरित मिस, विधि निषेध बद बेद ॥ १२ ॥

आपु आपु कहँ सब भलो, अपने कहँ कोइ कोइ ।
तुलसी सब कहँ जो भलो, सुजन सराहिय सोइ ॥ १३ ॥

बसि कुसंग चह सुजनता, ताकी आस निरास ।
तीरथ हू को नाम भो, 'गया' मगह के पास ॥ १४ ॥

होइ भले के अनभलो, होइ दानि के सूम ।
होइ कुपूत सुपूत के, ज्यों पावक में धूम ॥ १५ ॥

बरखि बिस्व हरषित करत, हरत ताप अघ प्यास ।
तुलसी दोष न जलद को, जो जल जरै जवास ॥ १६ ॥

अमर दानि जाचक मरहिं, मरि मरि फिरि फिरि लेहिं ।
तुलसी जाचक पातकी, दातहिं दूषन देहिं ॥ १७ ॥

लखि गयन्द लै चलत भजि, स्वान सुखानो हाड़ ।
गज गुन मोल अहार बल, महिमा जान कि राड़ ॥ १८ ॥

कै निदरहु कै आदरहु, सिंहहिं स्वान सियार ।
हर्ष विषाद न कैहरिहिं, कुंजर-गंजनिहार ॥ १९ ॥

ठाढ़ो द्वार न दै सकैं, तुलसी जै नर नीच ।
निन्दहिं बलि हरिचंद को, का कियो करन दधीच ॥ २० ॥

पर सुख संपति देखि-सुनि, जरहिं जे जड़ बिनु आगि ।
तुलसी तिनके भाग ते, चलै भलाई भागि ॥ २१ ॥

तुलसी निज कीरति चहैं, पर कीरति कहँ खोइ ।
तिनके मुँह मसि लागिहैं, मिटहिं न मरिहैं धोइ ॥ २२ ॥

तनु गुन धन महिमा धरम, तेहि बिनु जेहि अभिमान ।
तुलसी जियत बिडम्बना, परिनामहु गत जान ॥ २३ ॥

सरल वक्रगति पंच ग्रह, चपरि न चितवत काहु ।
तुलसी सूधे सूर ससि, समय बिडंबित राहु ॥ २४ ॥

तुलसी खल-बानी मधुर, सुनि समुझिय हियँ हेरि ।
राम राज बाधक भई, मन्द मन्थरा चेरि ॥ २५ ॥

जोक सूधि मन कुटिल गति, खल बिपरीत बिचारु ।
अनहित सोनित सोष सो, सो हित सोषनहारु ॥ २६ ॥

नीच गुडी ज्यों जानिबो सुनि लखि तुलसीदास ।
ढीलि दिये गिरि परत महि, खैंचत चढ़त अकास ॥ २७ ॥

भरदर बरषत कोस सत, बचैं जे बूँद बराइ ।
तुलसी तेउ खल-बचन-सर, हये, गये न पराइ ॥ २८ ॥

सहवासी काचो गिलहि, पुरजन पाक-प्रवीन ।
कालछेप केहि मिलि करहिं, तुलसी खग मृग मीन ॥ २९ ॥

जासु भरोसे सोइए, राखि गोद में सीस ।
तुलसी तासु कुचाल तें, रखवारो जगदीस ॥ ३० ॥

परद्रोही, परदार-रत, परधन पर-अपवाद ।
ते नर पाँवर पाप मय, देह धरे मनुजाद ॥ ३१ ॥

बचन बेष क्यों जानिए, मन मलीन नरनारि ।
सूपनखा, मृग, पूतना, दसमुख प्रमुख विचारि ॥ ३२ ॥

हँसनि, मिलनि, बोलनि मधुर, कटु करतब मनमाँह ।
छुवत जो सकुचै सुमतिसो, तुलसी तिन्ह की छाँह ॥ ३३ ॥

बचन, बिचार, अचार, तन, मन, करतब, छलछूति ।
तुलसी क्यों सुख पाइए, अंतर्जामिहि धूर्ति ॥ ३४ ॥

सारदूल को स्वांग कर, कूकर की करतूति ।
तुलसी तापर चाहिये, कीरति विजय बिभूति ॥ ३५ ॥

बड़े पाप बाढ़े किए, छोटे किए लजात ।
तुलसी तापर सुख चहत, विधि सौं बहुत रिसात ॥ ३६ ॥

राज करत बिनु काजही, करैं कुचालि कुसाज ।
तुलसी ते दसकंध ज्यों, जइहैं सहित समाज ॥ ३७ ॥

हित पर बढ़ै बिरोध जब, अनहित पर अनुराग ।
राम-बिमुख बिधि बामगति, सगुन अघाय अभाग ॥ ३८ ॥

लोक रीति फूटी सहैं, आँजी सहै न कोइ ।
तुलसी जो आँजी सहै, सो आँधरो न होइ ॥ ३९ ॥

कलह न जनाब छोट करि, कलह कठिन परिनाम ।
लगति अगिनि लघुनीचगृह, जरत धनिक-धन-धाम ॥ ४० ॥

जो परि पायं मनाइए, तासों रूठि बिचारि ।
तुलसी तहाँ न जीतिये, जहँ जीतेहू हारि ॥ ४१ ॥
जूझेते मल बूझिबो, भली जीति ते हारि ।
डहके ते डहकाइबो, भलो जो करिय बिचारि ॥ ४२ ॥

जा रिपु सों हारेहु हँसी, जिते पाप परितापु ।
तासों रारि निवारिए, समय संभारिय आपु ॥ ४३ ॥

जो मधु मरै न मारिये, माहुर देइ सो काउ।
जग जिति हारे परसुधर, हारि जिते रघुराउ ॥ ४४ ॥

रोष न रसना खोलिए, बरु खोलिय तरवारि।
सुनत मधुर,परिनाम हित, बोलिय बचन बिचारि ॥ ४५ ॥

मधुर बचन कटु बोलिबो, बिनु श्रम भाग अभाग।
कुहू कुहू कलकंठरव, का का कररत काग ॥ ४६ ॥

पेट न फूलत बिनु कहे, कहत न लागै ढेर।
सुमति बिचारे बोलिये, समुझि कुफेर सुफेर ॥ ४७ ॥

सूर समर करनी करहिं कहि न जनावहिं आपु।
विद्यमान रन पाइ रिपु कायर कथहिं प्रलापु ॥ ४८ ॥

लाभ समय को पालिबो, हानि समय की चूक।
सदा बिचारहिं चारुमति, सुदिन कुदिन दिन दूक ॥ ४९ ॥

तुलसी असमय के सखा, धीरज धरम बिवेक।
साहित, साहस, सत्यब्रत, राम-भरोसो एक ॥ ५० ॥

सहि कुबोल साँसित सकल, अँगइ अनट अपमान।
तुलसी धरम न परिहरिय, कहि कर गए सुजान ॥ ५१ ॥

दीरघ रोगी दारिदी, कटुबच लोलुप लोग।
तुलसी प्रान समान तउ, होहिं निरादर-जोग ॥ ५२ ॥

पाही खेती, लगन बट, ऋन कुब्याज मग-खेत।
बैर बड़े सों आपने, किये पाँच दुख-हेत ॥ ५३ ॥

जो मूरख उपदेस के, होते जोग जहान।
क्यों न सुजोधन बोध कै, आए स्याम सुजान ? ॥ ५४ ॥

रीझि आपनी बूझि पर, खीझि बिचार-बिहीन।
ते उपदेस न मानहीं, मोह-महोदधि मीन ॥ ५५ ॥

कूप खनत मंदिर जरत, आए धारि बबूर।
बवहिं,नवहिंनिजकाज सिर,कुमति-सिरोमनि कूर ॥ ५६ ॥

बहुसुत, बहुरुचि बहुवचन, बहु अचार-ब्यवहार।
इनको भलो मनाइयो, यह अज्ञान अपार ॥ ५७ ॥

तुलसी पावस के समय धरी कोकिला मौन।
अब तों दादुर बोलिहैं हमैं पूछिहै कौन ? ॥ ५८ ॥

(दोहावली से)

अर्थ-संकेत (दोहावली का)

२. सेई = वही, तेई = वही, वसंत = वसंत ऋतु आने पर। ३. हित = जब तक हित अर्थात् स्वार्थ है। चाँद = बिना स्वार्थ के चीजें अशुद्ध और दुश्मन-सी दीखती हैं। निज.........हाड़ = जब तक दाँत अपने मुँह में हैं, रत्न के समान मूल्यवान हैं किन्तु भूमि पर गिरते ही 'हड्डी' हो जाते हैं। ३. अब के लोग मोर के समान ऊपर से सुन्दर हैं, अच्छा बोलते हैं किन्तु भीतर से साँप को भी हज़म कर लेने वाले अर्थात् खतरनाक हैं। ४. बगला अपने पैर, चोंच, आँख हंस की तरह रंग लेने तथा मराली चाल चलकर भी हंस नहीं बन सकता। नीर-क्षीर-विवेक के समय पता चल जाता है। ५. कृसधन थोड़ी पूँजी वाले। नीच = धनी किन्तु नीच। अर्थात् वे थोड़ी पूँजी वाले अच्छे मित्र या धनी किन्तु नीच से नहीं मानते बल्कि दुख सह लेते हैं, पानी और जल के बीच रह लेते हैं। ८. माहुर = ज़हर। तुलसी......आँच = सज्जन असत्य को और दुर्जन सत्य को छूते ही वैसे भागते हैं जैसे पारा आग की आँच पाकर। ६. अपवर्गकर = मोक्षदायक। १०. सुकृती = पुण्यात्मा। ११. सुजन = सज्जन। सुतरु = कपास। ऊख = ईख। सज्जन कपास तथा ईख की तरह दूसरों के हित के लिए कष्ट सहते हैं किंतु दुष्ट कष्ट सहते हैं किंतु दूसरों को काटने के लिए जैसे टाँकी और रुखानी। साँसति = कष्ट। १२. वेद कर्मनाशा (इसमें स्नान निषिद्ध है) और गंगा (इसमें स्नान स्तुत्य है) के बहाने निषेध और विधि का संकेत करते हैं। सज्जन इसी तरह भल-पोच (अच्छा-बुरा) रास्तों की पहचान कराते हैं। किन्तु पापी अंतर नहीं समझता १३. आपु आपु कहँ = अपने आप लिए। अपने कहँ = अपनों के लिए।१४. मगध (अशुद्ध स्थान) के पास बसने से 'विष्णुपद तीर्थ' भी 'गया' (गया = बीता) कहलाया। १६. जवास = एक पौधा जो वर्षा सो सूख जाता है। यहाँ यह 'दुष्ट' का प्रतीक है। १७. दाता अमर होते हैं और माँगने वाले मर जाते हैं। वे पापी बार-बार माँगते हैं और न देने या कम देने पर दानी को दोष लगाते हैं। १८. कुत्ता (नीच) हाथी (सज्जन) को देखकर अपने मुँह की सूखी हड्डी लेकर भाग जाता है कि कहीं वह छीन न ले। वह मूर्ख (राड़) हाथी के गुण मूल्य आहार तथा वल को क्या जाने ? १९. कुत्ते-गीदड़ सिंह की निंदा करें या तारीफ़ हाथी को बिदारने वाले सिंह को भला इसका क्या विषाद या हर्ष ? २०. नीच स्वयं तो दरवाजे के आए मंगन को कुछ दे नहीं सकते किन्तु बलि, कर्ण, हरिश्चंद तथा दधीच की निंदा से नहीं चूकते। २३. सौंदर्य, गुण, धन, महिमा तथा धर्म से रहित होने पर भी जो अभिमान करते हैं उनका जीवन व्यर्थ है, मरने पर उन्हें सद्गति नहीं मिलती। मिथ्याभिमान को लेकर यह कहा गया है। २४. टेढ़ों से सभी डरते हैं। टेढ़े चलने वाले मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि को राहु कुछ नहीं करता किन्तु सीधे चलने वाले सूर्य-चंद्रमा को समय पाकर ग्रसता है। २६. जोंक की चाल टेढ़ी होती है, किन्तु वह मन से सीधी होती है इसीलिए विकृत खून को चूसती है। किन्तु खल इसके विपरीत होते हैं, ये दूसरों के हित का शोषण करते हैं। २७ दुष्ट को ढील नहीं देनी चाहिए। उससे कसे रखना ही ठीक है। २८. भरदर बरषत = ज़ोरों की वर्षा में। दुष्टों की निंदा तथा घाय से कोई बच नहीं सकता। हये = हते, मारे गए। २९. सहबासी काच गिलहि = साथ रहने वाले कच्चे ही निगल जाते हैं : पक्षी को बाज़, मृग को सिंह मछली को ग्राह। पुरजन.......प्रबीन = गाँव = गर के वासी उन्हें पकाकर रखा जाता है। कलछेप केहि मिलि करहिं = भला किसके साथ समय काटें, जीवन बिताएँ। ३०. विश्वासघाती से भगवान ही रक्षा कर सकते हैं। ३१. परधन परअपवाद = दूसरे के धन तथा दूसरे की निंदा में रुचिवाले। देह धरें मनुजाद = वे नर-देह धारण किए हुए राक्षस हैं। ३२. बाहरी वेष और वचन से मन की मलिनता का पता नहीं चलता। ३४. धूति = ठगकर। जो वचन, विचार, आचार, तन, मन तथा कामों से छली हैं, वे भगवान को ठगकर कैसे सुख पा सकते हैं ? ३५. सारदूल =

सिंह । ३६. विधि·······रिसात=इसपर भी सुख न मिलने पर विधाता पर क्रोध करता है । ३८. हितैषी का विरोध, अनहित चाहने वाले के प्रति प्रेम बढ़ जाए तो समझना चाहिए कि राम विमुख हैं, विधाता रुष्ट हैं । यह पूर्णरूपेण अभागा होने का अपशकुन है । ३९. ऐसी रीति है कि लोग आँख में अंजन लगाने का कष्ट नहीं सहते, आँख का फूटना सह लेते हैं । अंग का कष्ट सह लें तो अंधे न हों । ४२. संघर्ष करने से समझौता करना, जीतने से हारना, तथा ठगना से ठगाना अच्छा है=यदि विचार करें । ४३ परिताप=दुख । समय······सँभारिअ=समय रहते, स्वयं झगड़ा मिटा लेना चाहिए । ४४. जो शहद (मधुर वाणी) से भरे उसे माहुर (ज़हर, अर्थात् कठोर वाणी) से नहीं मारना चाहिए । यही रहस्य न समझने से परशुराम राम से जीतकर भी हार गए और राम हार कर भी जीत गए । ४५. सुनत···· हित सुनने में मधुर तथा परिणाम में अच्छी हो, विचार करके ऐसी बानी बोलनी चाहिए । ४५. कररत=करीता है । ४६. यथावसर सोच-समझ कर बोलना चाहिए । ४७. कथहि प्रलापु=व्यर्थ में प्रलाप करते हैं । ४८. समय को समझकर उसका लाभ उठाना ही 'लाभ' है और चूक जाना 'हानि' है । सुदिन··········दूक सुदिन और कुदिन दो दिन के ही होते हैं, इसीलिए उन्हें समझकर तुरन्त तदनुसार करना चाहिए । ४९ साहित्य=अच्छा साहित्य । ५०. अँगइ=स्वीकार कर लो । अनट-मिथ्या ५२. पाही=अपने गाँव से दूर गाँव में होने वाली । लगन बट=रास्ते चलने से प्रेम । ऋण कुब्याज=बहुत अधिक ब्याज पर ऋण । मग खेत=रास्ते पर का खेत जिसमें आते-जाते लोग तोड़ लें । जैसे ईख, मटर आदि । ५३. अपनी बुद्धि पर रीझने वाले, अर्थात्, उसे बड़ी मानने वाले तथा विचार-विहीन गुस्सा करने वाले मोह के समुद्र में मछली के समान होते हैं, वे किसी का उपदेश नहीं मानते । ५५ घर में आग लगने पर कुआँ खोदते हैं ? शत्रु के चढ़ाई करने पर रोकने के लिए बबूल लगाते हैं, अपना काम पड़ने पर भगवान को छोड़कर जहाँ-तहाँ सिर नवाते हैं, वे मूर्खों में शिरोमणि और प्रमादी हैं ।

गंग

गंग (१५३८-१६१७ ई०) अकबर के दरबारी कवि थे। खोज रिपोर्टों में इनके नाम से तीन ग्रंथों के नाम (१. गंग-पदावली, २. गंग पच्चीसी तथा ३. गंग रत्नावली) मिलते हैं। पर अभी तक इनमें प्रथम दो का पता नहीं है। तीसरा ग्रंथ 'गंग-रत्नावली' गंग रचित कोई ग्रंथ न होकर इनकी कविताओं का एक संग्रह है जो डॉ० भवानी शंकर याज्ञिक के संग्रहालय में सुरक्षित है। इसका 'गंग-रत्नावली' नाम कल्पित है। गंग के कुल प्राप्त छंदों की संख्या लगभग चार सौ है, जिनमें भक्ति, नीति, वीर रस तथा शृंगार के सवैये तथा कवित्त आदि हैं।

गंग का नीति काव्य बहुत उच्च कोटि का तथा अनुभवपूर्ण है। इनके प्रधान विषय दुर्जन, मूर्ख, बोलना, मित्र, दान, गर्ज, शरीर की नश्वरता, नारी का प्रेम, राजा, संगति, सत्य का न छिपना, नौकर, फूट, माँगना तथा नीच आदि हैं। उन्होंने बातें तो प्रायः नीति-साहित्य की पूर्व-परिचित विषयों की ही की हैं, किन्तु कहने के ढङ्ग में नवीनता है। उदाहरणों में भी काफी नवीनता है। इनके कुछ छंद हैं—

गर्जहि अर्जुन हिज्र भए अरु गर्जहि गोविंद धेनु चरावे।
गर्जहि द्रोपदी दासि भई अरु गर्जहि भीम रसोई पकावे।
गर्ज बड़ी सब लोगन में अरु गर्ज बिना कोउ आवे न जावे।
गंग कहे सुन साह अकब्बर गर्ज से बीबी गुलाम रिझावे ।। १ ।।

कहै ते समझ नाहिं समझाये समझै नहिं कवि लोग कहें ताहि मानत असार सी।
काक को कपूर जैसे मरकट को भूषण ज्यों ब्राह्मन मक्का जैसे मीर को बनारसी।
बहिरे के आगे तान गाए को सवाद जैसे हिजरे के आगे नारि लागत अँगार सी।
कहे कवि गंग मन माँहि विचारि तो देखो मूढ़ आगे विद्या जैसे-अंधे आगे आरसी ।। २ ।।

दुष्टन की प्रीति कहा, खादि बिन खेत जैसे प्रीति बिन मित्र वाको चित्तहूँ न आनिये।
मति बिना मर्द औ नूर बिन नारी कहा अर्थ बिना कवि वाको पसु ज्यों प्रमानिये।
तोपें बिना फौज कहाँ हस्ती बिन हौदा जैसे, द्रव्य बिन देवे दान व्यर्थ ही प्रमानिये।
कहे कवि गंग सुनो साहिब के साहि सूरा आदमी को तोल एक बोल में पिछानिये ।। ३ ।।

चंचल नारि सों प्रीति न कीजिए प्रीति किए दुख होत है भारी।
काल परे कछु आन बने, कबों नारि की प्रीति है प्रेम-कटारी।
लोह के घाव दवा ते मिटे पर चित को घाव न जाय बिसारी।
गंग कहै सुन साह अकब्बर नारि की प्रीति अंगार ते छारी ।। ४ ।।

गंग तरंग प्रवाह चले तहँ कूप को नीर पियो न पियो।
आइ हिदै रघुनाथ वसे तब और को नाम लियो न लियो।
कर्म संजोग सुपात्र मिले तो कुपात्र को दान दियो न दियो।
गंग कहै सुन साह अकब्बर मूरख मित्र कियो न कियो ।। ५ ।।

जहाँ न चंदन होय तहाँ नहिं रहे भुजंगम।
जहाँ न तरवर होय तथा नहिं रहे विहंगम।

जहाँ न सत संतोष तहाँ आचार रहै किमि ।
जहँ नायिका समूह तहाँ ब्रत सील रहै किमि ।
परधान नहीं जिहि राज में चोर साह नहि अंतरौ ।
बसिये न तहाँ कवि गंग कहि खरि गुर जहाँ पंटतरौ ।। ६ ।।

ग्यान घटे कोउ मूढ़ कि संगति ध्यान घटे बिन धीरज लाए ।
प्रीति घटे कोइ गूंगे के आगे औ मान घटै नित ही नित जाए ।
सोच घटे कोइ साधु की संगति रोग घटै कछु औखद खाए ।
गंग कहै सुन साह अकब्बर पाप घटै हरि के गुन गाए ।। ७ ।।

तारा की जोति में चंद छिपै नहिं सूर छिपै नहिं बादर छाये ।
रन्न चढ़्यो रजपूत छिपै नहिं दाता छिपै नहिं माँगन आये ।
चंचलि नारि के नैन छिपै नहिं प्रीति छिपै नहिं पीठ दिखाये ।
गंग कहैं सुन साह अकब्बर कर्म छिपै न भभूत रमाये ।। ८ ।।

फूटि गए हीरा की बिकानी कनी हाट हाट काहू घाट मोल काहू बाढ़ मोल को लयो ।
टूट गई लंका फूट मिल्यो जो विभीषन है रावन समेत बंस आसमान को गयो ।
कहै कवि गंग दुरजोधन से छलधारी तनक में फूटे ते गुमान वाको नै गयो ।
फूटे ते नरद उठि जात बाजी चौसर की आपसु के फूटे कहु कौन को भलो भयो ।। ९ ।।

बाल से ख्याल बड़े से विरोध बिरानिहुँ नारि से ना हँसिये ।
अन्न से लाज अनंग से जोर अजानेहू नीर में ना धँसिये ।
बैल को नाथ, घोड़े को लगाम सो हस्ति को अंकुस से कसिये ।
गंग कहै सुन साह अकब्बर कूर से दूर सदा बसिये ।। १० ।।

बुरो प्रीति को पंथ, बुरो जंगल को बासो ।
बुरो नारि को नेह, बुरो मूरख सो हाँसो ।
बुरो सूम की सेव, बुरो भगनी पर भाई ।
बुरी कुलच्छन नारि, सास घर बुरो जमाई ।
बुरो पेट जंजाल है, बुरो सूर को भागनो ।
गंग कहै अकब्बर सुनो सबसे बुरो है माँगनो ।। ११ ।।

लहसुन गाँठ कपूर के नीर में बार पचासक धोइ मँगाई ।
केसर के पुट दे दे के फेरि सु चन्दन ब्रिच्छ की छाँह सुखाई ।
गंग जू मोगरे माहि लपेट धरी पर बास सुवास जु आय न पाई ।
ऐसे हि नीच कूँ ऊँच की संगत कोटि उपाय कुटेव न जाई ।। १२ ।।

पावक कूँ जल बिन्दु निवारक, सूरज ताप कूँ छत्र लियो है ।
व्याधि कूँ बैद, तुरंग चाबुक, गंग उदंड को दंड दियो है ।
हस्ति महामद कूँ किय अंकुस, भूत पिचास कूँ मंत्र कियो है ।
ओखद है सबको सुखकारि स्वभाव को औखद नाहि कियो है ।। १३ ।।

अर्थ-संकेत

६. खारि गुरु जहाँ पंटतरौ = जहाँ खली और गुड़ बराबर समझे जाएँ । ९. नरद = गोट । १०. कूर = मूर्ख ।

———

रहीम

अब्दुर्रहीम खानखाना (१५५६—१६२६ ई०) अकबर के फुफेरे भाई तथा बैराम खाँ के पुत्र थे। ये अरबी, फ़ारसी, तुर्की, संस्कृत तथा हिंदी के विद्वान् और कवि थे। अकबर के दरबार में इन्हें बहुत सम्मानित स्थान प्राप्त था। इन्होंने अकबर की ओर से कई युद्धों का संचालन किया था तथा विजय भी पाई थी। इस प्रकार रहीम कलम और तलवार दोनों के धनी थे। इनका स्वभाव बहुत ही सरस, सरल और दयापूर्ण था। अनेक कवि तथा साहित्यिक इनकी कृपा के पात्र थे। इस सम्बन्ध में कई किंवदन्तियाँ भी प्रचलित हैं। कहा जाता है कि एक बार गंग के एक छप्पय पर ये इतने प्रसन्न हुए कि उन्हें ३६ लाख की हुंडी दे डाली। तुलसीदास से भी इनका परिचय था। एक बार तुलसी ने किसी ब्राह्मण को इनके पास भेजा जिसे अपनी कन्या के विवाह के लिए रुपयों की आवश्यकता थी। रहीम ने उसे भी बहुत-सा धन दिया।

रहीम आजीवन बड़े आनन्द से रहे। बुढ़ापे में संभवतः लड़ाई में धोखा देने के अपराध में जहाँगीर ने इनकी जागीर ज़ब्त कर ली तथा ये कैद भी कर लिए गए थे। कैद से छूटने पर इनकी आर्थिक दशा बड़ी खराब हो गई। जिन रहीम ने आजीवन मुक्त-हस्त होकर दान दिया। वे स्वभावतः अपनी इस अवस्था से बहुत दुखी थे। विशेषतः जब कोई याचक उनके पास पहुँचता था तो उसकी सहायता न कर पाने से उन्हें बड़ा ही मानसिक कष्ट होता था। उन्होंने लिखा भी है—

तबही लौं जीबो भलो, दैबो होय नधीन।
जग में रहिबो कुँचित गति उचित न होय रहीम॥

एक बार एक दीन याचक के दुख से दुखी हो उन्होंने उसे इस दोहे के साथ रीवाँ नरेश के पास भेजा—

चित्रकूट में रमि रहे रहिमन अवध-नरेस।
जा पर विपदा परति है सो आवत यहि देस॥

रीवाँ नरेश ने उसकी पूरी सहायता की।

एक किंवदंती के अनुसार रहीम पर एक बार आर्थिक संकट इतना अधिक आ गया था कि उन्हें एक भड़भूँजे के यहाँ भाड़ झोंकने की नौकरी भी करनी पड़ी थी।

रहीम ने हिन्दी में कई ग्रंथ लिखे हैं, जिनमें प्रमुख दोहावली, बरवै-नायिका-भेद, मदनाष्टक तथा शृंगार-सोरठ आदि हैं। इनकी हिन्दी कवि रूप में ख्याति का प्रमुख आधार इनकी दोहावली है। कुछ लोगों के अनुसार यह सतसई थी, जिसका लगभग अर्द्धांश अब प्राप्य नहीं है। प्राप्त दोहावली में लगभग २८० दोहे तथा ८ सोरठे मिलते हैं। इसमें व्यवहारिक-सामाजिक तथा धार्मिक नीति का वर्णन है और इसके प्रमुख विषय मित्र, बात, नारी, ईश्वर, ऋण, माँगना, भाई, नीच, संग, धन, मूर्ख, भाग्य, प्रेम, दुःख, समय, कपूत, गर्व, चापलूसी, गुण, उपकार, मन तथा बैर आदि हैं।

तुलसी तथा घाघ आदि की पंक्तियों की भाँति रहीम की भी बहुत-सी पंक्तियों का लोकोक्तियों की भाँति प्रयोग होता है और उनका उत्तरी भारत की हिन्दी जनता में बहुत प्रचार है। इनके छंदों में जीवन की गहरी अनुभूति है। शुक्ल जी का यह कथन ठीक ही

है कि 'गिरिधर के पद्यों के समान (रहीम के दोहे) कोरी नीति के पद्य नहीं हैं। उनमें, मार्मिकता है, उनके भीतर से एक सच्चा हृदय झाँक रहा है।' रहीम **के** छंदों का **कलापक्ष भी बहुत** सुंदर है। इनकी भाषा ब्रज है और उस पर इनका पूरा अधिकार **है। इनके प्रायः सभी छंद** सुन्दर **उदाहरणों** से युक्त **हैं,** इसी कारण **इनके** छन्द बड़े ही **प्रभावशाली हैं।**

नीचे इनकी दोहावली से कुछ दोहे तथा सोरठे दिए जा रहे हैं :

अनकीन्हीं बातैं करै, सोवत जागै जाय।
ताहि सिखाय जगायबो रहिमन उचित न होय ॥ १ ॥

अनुचित उचित रहीम लघु,करहिं बड़ेन के जोर।
ज्यों ससि के संजोग तें, पचवत आगि चकोर ॥ २ ॥

अब रहीम मुश्किल पड़ी, गाढ़े दोऊ काम।
साँचे से तो जग नहीं, झूठे मिलैं न राम ॥ ३ ॥

अमर बेलि बिनु मूल की, प्रतिपालत है ताहि।
रहिमन ऐसे प्रभुहिं तजि, खोजत फिरिए काहि ॥ ४ ॥

अमृत ऐसे बचन में, रहिमन रिस की गाँस।
जैसे मिसिरिहु में मिली, निरस बाँस की फाँस ॥ ५ ॥

अरज गरज मानैं नहीं, रहिमन ए जन चारि।
रिनिया, राजा, माँगता, काम-आतुरी नारि ॥ ६ ॥

असमय परे रहीम कहि माँगि जात तजि लाज।
ज्यों लछमन माँगन गये, पारासर के नाज ॥ ७ ॥

आदर घटे नरेस ढिग, बसे रहे कछु नाहिं।
जो रहीम कोटिन मिले,धिग जीवन जग माहिं ॥ ८ ॥

आप न काहू काम के, डार पात फल फूल।
औरन को रोकत फिरैं, रहिमन पेड़ बबूल ॥ ९ ॥

आवत काज रहीम कहि, गाढ़े बंधु सनेह।
जीरन होत न पेड़ ज्यौं, थामे बरै बरेह ॥ १० ॥

उरग, तुरँग,नारी, नृपति नीच जाति, हथियार।
रहिमन इन्हें सँभारिए, पलटत लगै न बार ॥ ११ ॥

ऊगत जाही किरन सों, अथवत ताही काँति।
त्यौं रहीम सुख दुख सबै, बढ़त एक ही भाँति ॥ १२ ॥

एकै साधे सब सधै, सब साधे सब जाय।
रहिमन मूलहिं सींचिबो, फूलै फलै अघाय ॥ १३ ॥

ओछो काम बड़े करैं, तौ न बड़ाई होय।
ज्यों रहीम हनुमंत को, गिरधर कहै न कोय ॥ १४ ॥

कदली, सीप, भुजंग-मुख, स्वाति एक गुन तीन।
जैसी संगति बैठिए, तैसोई फल दीन ॥ १५ ॥

कमला थिर न रहीम कहि,यह जानत सब कोय।
पुरुष पुरातन की बधू, क्यों न चंचला होय ॥ १६ ॥

करमहीन रहिमन लखो, धँसो बड़े घर चोर।
चितत ही बड़ लाभ के, जागत ह्वै गो भोर॥ १७॥

कहि रहीम या जगत तें, प्रीति गई दै टेर।
रहि रहीम नर नीच में, स्वारथ स्वारथ हेर॥ १८॥

कहि रहीम संपति सगे, बनत बहुत बहु रीत।
बिपति कसौटी जे कसे, ते ही साँचे मीत॥ १९॥

कहु रहीम कैसे निभै, बेर केर को संग।
वे डोलत रस आपने, उनके फाटत अंग॥ २०॥

काज परै कछु और है, काज सरै कछु और।
रहिमन भाँवर के भए, नदी सिरावत मौर॥ २१॥

काह करौं बैकुंठ लै, कल्प वृच्छ की छाँह।
रहिमन ढाक सुहावनो, जो गल पीतम बाँह॥ २२॥

काह कामरी पामरी, जाड़ गए से काज।
रहिमन भूख बुताइए, कैस्यो मिलै अनाज॥ २३॥

कुटिलन संग रहीम कहि, साधू बचते नाहिं।
ज्यों नैना सैना करें, उरज उमेठे जाँहि॥ २४॥

कैसे निबहैं निबल जन, करि सबलन सों गैर।
रहिमन बसि सागर बिषे, करत मगर सों बैर॥ २५॥

कोउ रहीम जनि काहु के, द्वार गये पछिताय।
संपति के सब जात हैं, बिपति सबै लै जाय॥ २६॥

कौन बड़ाई जलधि मिलि, गंग नाम भो धीम।
केहि की प्रभुता नहिं घटी, पर घर गये रहीम॥ २७॥

खीरा सिर तें काटिए, मलियत नमक लगाय।
रहिमन करुए मुखन को, चहिअत इहै सजाय॥ २८॥

खैर, खून, खाँसी, खुसी, बैर, प्रीति, मदपान।
रहिमन दाबे ना दबैं, जानत सकल जहान॥ २९॥

गुरुता फबै रहीम कहि, फबि आई है जाहि।
उर पर कुच नीके लगैं, अनत बतौरी आहि॥ ३०॥

चारा प्यारा जगत में, छाला हित कर लेय।
ज्यों रहीम आटा लगे, त्यों मृदंग स्वर देय॥ ३१॥

चाह गई चिंता मिटी, मनुआ बेपरवाह।
जिनको कछू न चाहिए, वे साहन के साह॥ ३२॥

छिमा बड़न को चाहिए, छोटन को उतपात॥
का रहीम हरि को घट्यो, जो भृगु मारी लात॥ ३३॥

छोटन सो सोहैं बड़े, कहि रहीम यह रेख।
सहसन को हय बाँधियत, लै दमरी की मेख॥ ३४॥

जब लगि बित्त न आपुने, तब लगि मित्र न कोय।
रहिमन अंबुज अंबु बिनु, रवि नाहिंन हित होय॥ ३५॥

जहाँ गाँठ तहँ रस नहीं, यह रहीम जग जोय।
मँड़ए तर की गाँठ में, गाँठ गाँठ रस होय ।। ३६ ।।

जाल परे जल जात बहि, तजि मीनन को मोह।
रहिमन मछरी नीर को, तऊ न छाँड़त छोह ।। ३७ ।।

जे गरीब पर हित करैं, ते रहीम बड़ लोग।
कहाँ सुदामा बापुरो, कृष्ण मिताई जोग ।। ३८ ।।

जे रहीम बिधि बड़ किए,को कहि दूषन काढ़ि।
चंद्र दूबरो कूबरो, तऊ नखत तें बाढ़ि ।। ३९ ।।

जैसी जाकी बुद्धि है, तैसी कहै बनाम ।।
ताकों बुरो न मानिए, लेन कहाँ सो जाय ।। ४० ।।

जैसी परै सो सहि रहै, कहि रहीमयह देह।
धरती पर ही परत है, सीत घाम औ मेह ।। ४१ ।।

जो अनुचितकारी तिन्हैं, लगै अंक परिनाम।
लखे उरज उर बेधियत,क्यों न होय मुख स्याम ।। ४२ ।।

जो पुरुषारथ ते कहूँ, संपति मिलत रहीम।
पेट लागि बैराट घर, तपत रसोई भीम ।। ४३ ।।

जो बड़ेन को लघु कहें, नहिं रहीम घटि जाँहि।
गिरधर मुरलीधर कहे, कछु दुख मानत नाहिं ।। ४४ ।।

जो मरजाद चली सदा, सोई तौ ठहराय।
जो जल उमगै पारतें, सो रहीम बहि जाय ।। ४५ ।।

जो रहीम उत्तम प्रकृति,का करि सकत कुसंग।
चंदन विष ब्यापत नहीं, लपटे रहत भुजंग ।। ४६ ।।

जो रहीम ओछो बढ़ै, तौ अति ही इतराय ।।
प्यादे सों फरजी भयो, टेढ़ो टेढ़ो जाय ।। ४७ ।।

जो रहीम गति दीप की, कुल कपूत गति सोय।
बारे उजियारो लगे, बढ़े अँधेरो होय ।। ४८ ।।

जो रहीम दीपक दसा, तिय राखत पट ओट।
समय परे ते होत है, वाही पट की चोट ।। ४९ ।।

जो रहीम तन हाथ है, मनसा कहुँ किन जाहिं।
जल में जो छाया परी, काया भीजति नाहिं ।। ५० ।।

जो विषया संतन तजी, मूढ़ ताहि लपटात।
ज्यों नर डारत वमन कर,स्वान स्वाद सों खात ।। ५१ ।।

टूटे सुजन मनाइए, जौ टूटे सौ बार।
रहिमन फिरि फिरि पोहिए, टूटे मुक्ताहार ।। ५२ ।।

तरुवर फल नहिं खात हैं,सरवर पियहिं न पान।
कहि रहीम पर काज हित,संपति सँचहि सुजान ।। ५३ ।।

तासों ही कछु पाइए, कीजै जाकी आस।
रीते सरवर पर गये, कैसे बुझै पियास ।। ५४ ।।

थोथे बादर क्वाँर के, ज्यों रहीम घहरात ।
धनी पुरुष निर्धन भये, करैं पाछिली बात ।। ५५ ।।

थोरो किए बड़ेन की, बड़ी बड़ाई होय ।
ज्यों रहीम हनुमंत को, गिरधर कहत न कोय ।। ५६ ।।

दीन सबन को लखत है, दीनहिं लखै न कोय ।
जो रहीम दीनहिं लखै, दीन बंधु सम होय ।। ५७ ।।

दुरदिन परे रहीम कहि, दुरथल जैयत भागि ।
ठाढ़े हूजत घूर पर, जब घर लागत आगि ।। ५८ ।।

दोनों रहिमन एक से, जौ लौं बोलत नाहिं ।
जान परत हैं काक पिक, ऋतु बसंत के माँहि ।। ५९ ।।

धन दारा अरु सुतन सों, लगो रहे नित चित्त ।
नहिं रहीम कोऊ लख्यो, गाढ़े दिन को मित्त ।। ६० ।।

धनि रहीम गति मीन की, जल बिछुरत जिय जाय ।
जिअत कंज तजि अनत बसि, कहा भौंर को भाय ।। ६१ ।।

धनि रहीम जल पंक को, लघु जिय पिअत अघाय ।
उदधि बड़ाई कौन है, जगत पिआसो जाय ।। ६२ ।।

धरती की सी रीत है, सीत घाम औ मेह ।
जैसी परे सो सहि रहै, त्यों रहीम यह देह ।। ६३ ।।

नात नेह दूरी भली, लो रहीम जिय जानि ।
निकट निरादर होत है, ज्यों गड़ही कौ पानि ।। ६४ ।।

निज कर क्रिया रहीम कहि, सुधि भावी के हाथ ।
पाँसे अपने हाथ में, दाँव न अपने हाथ ।। ६५ ।।

नैन सलोने अधर मधु, कहि रहीम घटि कौन ।
मीठो भावै लोन पर, अरु मीठे पर लौन ।। ६६ ।।

पावस देखि रहीम मन, कोइल साधे मौन ।
अब दादुर वक्ता भए, हमको पूछत कौन ।। ६७ ।।

प्रीतम छबि नैनन बसी, पर छबि कहाँ समाय ।
भरी सराय रहीम लखि, पथिक आप फिर जाय ।। ६८ ।।

फरजी साह न ह्वै सकै, गति टेढ़ी तासीर ।
रहिमन सीधे चाल सों, प्यादो होत वजीर ।। ६९ ।।

बड़े दीन को दुख सुने, लेत दया उर आनि ।
हरि हाथी सो कब हुती, कहु रहीम पहिचानि ।। ७० ।।

बड़े पेट के भरन को, है रहीम दुख बाढ़ि ।
याते हाथी हहरि कै, दयो दाँत द्वै काढ़ि ।। ७१ ।।

बड़े बड़ाई नहिं तजैं, लघु रहीम इतराइ ।
राइ करौंदा होत है, कटहर होत न राइ ।। ७२ ।।

बड़े बड़ाई ना करैं, बड़ो न बोलैं बोल ।
रहिमन हीरा कब कहै, लाख टका मेरो मोल ।। ७३ ।।

बढ़त रहीम धनाढ्य धन, धनी धनी को जाइ ।
घटै बढ़ै वाको कहा, भीख माँगि जो खाइ ।। ७४ ।।

बसि कुसंग चाहत कुसल,यह रहीम जिय सोस ।
महिमा घटी समुद्र की, रावन बस्यो परोस ।। ७५ ।।

बिगरी बात बनै नहीं, लाख करौ किन कोय ।
रहिमन फाटे दूध को, मथे न माखन होय ।। ७६ ।।

बिपति भए धन ना रहे, रहे जो लाख करोर ।
नभ तारे छिपि जात हैं, ज्यों रहीम भए भोर ।। ७७ ।।

भूप गनत लघु गुनिन को, गुनी गनत लघु भूप ।
रहिमन गिरि तें भूमि लौं, लखौ तो एकै रूप ।। ७८ ।।

मथत मथत माखन रहै, दही मही बिलगाय ।
रहिमन सोई मीत है, भीर परे ठहराय ।। ७९ ।।

माँगे घटत रहीम पद, कितौ करौ बढ़ि काम ।
तीन पैग बसुधा करी, तऊ बावनै नाम ।। ८० ।।

मान सहित विष खाय के, संभु भये जगदीस ।
बिना मान अमृत पिये, राहु कटायो सीस ।। ८१ ।।

मूढ़ मंडली में सुजन, ठहरत नाहिं बिसेषि ।
स्याम कचन में सेत ज्यों, दूरि कीजिअत देखि ।। ८२ ।।

यह रहीम निज संग लै,जनमत जगत न कोय ।
बैर, प्रीति, अभ्यास, जस, होत होत ही होय ।। ८३ ।।

यों रहीम गति बड़ेन की, ज्यों तुरंग व्यवहार ।
दाग दिवावत आपु तन, सही होत असवार ।। ८४ ।।

यों रहीम सुख दुख सहत, बड़े लोग सह साँति ।
उवत चंद जेहि भाँति सो,अथवत ताही भाँति ।। ८५ ।।

रहिमन अती न कीजिए,गहि रहिये निज कानि ।
सैंजन अति फूले तऊ, डार-पात की हानि ।। ८६ ।।

रहिमन अपने गोत को, सबै चहत उत्साह ।
मृग उछरत आकाश को, भूमी खनत बराह ।। ८७ ।।

रहिमन अब वे बिरछ कहँ,जिनकी छाँह गँभीर ।
बागन बिच बिच देखिअत, सेंहुँड़-कुंज,करीर ।। ८८ ।।

रहिमन असमय के परे, हित अनहित ह्वै जाय ।
बधिक बधै मृग बान सों, रुधिरै देत बताय ।। ८९ ।।

रहिमन अँसुआ नैन ठरि, जिय दुख प्रगट करेइ ।
जाहि निकारो गेह ते, कस न भेद कहि देइ ।। ९० ।।

रहिमन आँटा के लगे, बाजत है दिन राति ।
घिउ शक्कर जे खात हैं, तिनकी कहा बिसाति ।। ९१ ।।

रहिमन उजली प्रकृति को, नहीं नीच को संग ।
करिया बासन कर गहे, कालिख लागत अंग ।। ९२ ।।

रहिमन इक दिन वे रहे, बीच न सोहत हार ।
वायु जो ऐसी बह गई, बीचन परे पहार ॥ ९३ ॥

रहिमन ओछे नरन सों, बैर भलो ना प्रीति ।
काटे चाटै स्वान के, दोऊ भाँति विपरीत ॥ ९४ ॥

रहिमन कठिन चितान ते, चिंता को चित चेत ।
चिता दहति निर्जीव को, चिंता जीव समेत ॥ ९५ ॥

रहिमन कबहुँ बड़ेन के, नाहिं गर्व को लेस ।
भार धरैं संसार को, तऊ कहावत सेस ॥ ९६ ॥

रहिमन कहत सुपेट सों, क्यों न भयो तू पीठ ।
रीते अनरीते करै, भरे बिगारत दीठ ॥ ९७ ॥

रहिमन खोजे ऊख में, जहाँ रसन को खानि ।
जहाँ गाँठ तहँ रस नहीं, यही प्रीति में हानि ॥ ९८ ॥

रहिमन खोटी आदि की, सो परिनाम लखाय ।
जैसे दीपक तम भखै, कज्जल वमन कराय ॥ ९९ ॥

रहिमन घरिया रहँट की, त्यों ओछे की डीठ ।
रीतिहि सनमुख होत है, भरी दिखावै पीठ ॥ १०० ॥

रहिमन चाक कुम्हार को, माँगे दिया न देइ ।
छेद में डंडा डारि कै, चहै नाँद लै लेइ ॥ १०१ ॥

रहिमन चुप ह्वै बैठिए, देखि दिनन को फेर ।
जब नीके दिन आइहैं, बनत न लगिहैं बेर ॥ १०२ ॥

रहिमन छोटे नरन सों, होत बड़ो नहीं काम ।
मढ़ो दमामो ना बने, सौ चूहे के चाम ॥ १०३ ॥

रहिमन जिह्वा बावरी, कहि गइ सरग पताल ।
आपु तो कहि भीतर रही, जूती खात कपाल ॥ १०४ ॥

रहिमन तब लगि ठहरिए, दान मान सनमान ।
घटत मान देखिय जबहिं, तुरतहि करिय पयान ॥ १०५ ॥

रहिमन तीन प्रकार ते, हित अनहित पहिचानि ।
पर बस परे, परोस बस, परे मामिला जानि ॥ १०६ ॥

रहिमन दुरदिन के परे, बड़ेन किए घटि काज ।
पाँच रूप पांडव भए, रथवाहक नल राज ॥ १०७ ॥

रहिमन देखि बड़ेन को, लघु न दीजिए डारि ।
जहाँ काम आवे सुई, कहा करे तलवारि ॥ १०८ ॥

रहिमन धागा प्रेम का, मत तोड़ो छिटकाय ।
टूटे से फिर ना मिले, मिले गाँठ परि जाय ॥ १०९ ॥

रहिमन निज मन की बिथा, मन ही राखो गोय ।
सुनि अटिलैहैं लोग सब, बाँटि न लैहै कोय ॥ ११० ॥

रहिमन निज संपति बिना, कोउ न बिपति सहाय ।
बिनु पानी ज्यों जलज को, नहिं रवि सकै बचाय ॥ १११ ॥

रहिमन नीचन संग बसि, लगत कलंक न काहि ।
दूध कलारी कर गहे, मद समुझै सब ताहि ॥ ११२ ॥

रहिमन नीच प्रसंग ते, नित-प्रति लाभ-विकार ।
नीर चोरावै संपुटी, मारु सहै घरिआर ॥ ११३ ॥

रहिमन पानी राखिये, बिनु पानी सब सून ।
पानी गए न ऊबरै, मोती, मानुष, चून ॥ ११४ ॥

रहिमन प्रीति न कीजिए, जस खीरा ने कीन ।
ऊपर से तो दिल मिला, भीतर फाँकें तीन ॥ ११५ ॥

रहिमन प्रीति सराहिए, मिले होत रँग दून ।
ज्यों जरदी हरदी तजै, तजै सफेदी चून ॥ ११६ ॥

रहिमन ब्याह बिआधि है, सकहु तो जाहु बचाय ।
पायन बेड़ी पड़त है, ढोल बजाय बजाय ॥ ११७ ॥

रहिमन बिगरी आदि की, बनै न खरचै दाम ।
हरि बाढ़े आकाश लौं, तऊ बावनै नाम ॥ ११८ ॥

रहिमन भेषज के किए, काल जीति जो जात ।
बड़े बड़े समरथ भए, तौ न कोउ मरि जात ॥ ११९ ॥

रहिमन याचकता गहे, बड़े छोट ह्वै जात ।
नारायन हू को भयो, बावन आँगुर गात ॥ १२० ॥

रहिमन या तन सूप है, लीजै जगत पछोर ।
हलुकन को उड़ि जान दे, गरुए राखि बटोर ॥ १२१ ॥
रहिमन यों सुख होत है, बढ़त देखि निज गोत ।
ज्यों बड़री अँखियाँ निरखि,आँखिन को सुख होत ॥ १२२ ॥

रहिमन रहिला की भली, जो परसै चित लाय ।
परसत मन मैला करे, सो मैदा जरि जाय ॥ १२३ ॥

रहिमन राज सराहिए, ससि सम सुखद जो होय ।
कहा बापुरो भानु है, तपै तरैयन खोय ॥ १२४ ॥

रहिमन लाख भली करो, अगुनी अगुन न जाय ।
राग सुनत पय पिअत हू, साँप सहज धरि खाय ॥ १२५ ॥

रहिमन बिद्या बुद्धि नहिं, नहीं धरम,जस,दान ।
भू पर जनम वृथा धरै, पसु बिनु पूँछ बिषान ॥ १२६ ॥

रहिमन बिपदाहू भली, जो थोरे दिन होय ।
हित अनहित या जगत में, जानि परत सब कोय ॥ १२७ ॥

रहिमन वे नर मर चुके, जे कहुँ माँगन जाहिं ।
उनते पहिले वे मुए, जिन मुख निकसत नाहिं ॥ १२८ ॥

राम न जाते हरिन सँग, सीय न रावण साथ ।
जो रहीम भावी कतहुँ, होत आपुने हाथ ॥ १२९ ॥

रीति प्रीति सबसों भली, बैर न हित मित गोत ।
रहिमन याही जनम की, बहुरि न संगति होत ॥ १३० ॥

बस रहीम कानन भलो, बास करिय फल भोग ।
बंधु मध्य धनहीन ह्वै, बसिबो उचित न योग ॥ १३१ ॥

वे रहीम नर धन्य हैं, पर उपकारी अंग ।
बाँटनवारे को लगे, ज्यों मेंहदी को रंग ॥ १३२ ॥

समय पाय फल होत है, समय पाय झरि जाय ।
सदा रहे नहिं एक सी, का रहीम पछिताय ॥ १३३ ॥

समय लाभ सम लाभ नहिं, समय चूक सम चूक ।
चतुरन चित रहिमन लगी, समय चूक की हूक ॥ १३४ ॥

सर सूखे पच्छी उड़ैं, औरे सरन समाहिं ।
दीन मीन बिन पच्छ के, कहु रहीम कहँ जाहिं ॥ १३५ ॥

सीत हरत,तम हरत नित,भुवन भरत नहिं चूक ।
रहिमन तेहि रवि को कहा, जो घटि लखै उलूक ॥ १३६ ॥

होय न जाकी छाँह ढिग, फल रहीम अति दूर ।
बढ़िहू सो बिनु काज ही, जैसे तार खजूर ॥ १३७ ॥

ओछे को सतसंग, रहिमन तजहु अँगार ज्यों ।
तातो जारै अंग, सीरो पै कारो लगै ॥ १३८ ॥

रहिमन जग की रीति, मैं देख्यो रस ऊख में ।
ताहू में परतीति, जहाँ गाँठ तहँ रस नहीं ॥ १३९ ॥

रहिमन मोहि न सुहाय, अमी पिआवै मान बिनु ।
बरु विष देइ बुलाय, मान सहित मरिबो भलो ॥ १४० ॥

अर्थ-संकेत

१. अनकीन्हीं=जिस विषय में व्यक्ति नहीं जानता । ५. गाँस=गाँठ, तीर का फल । १०. थामै बरै बरेह=बरेह या बरोह (बटवृक्ष की जटा) का आश्रय लेने से बरगद का पेड़ । १६. कमला=लक्ष्मी, धन । २१. सरै=हो जाने पर । ३०. बतौरी=एक प्रकार की मांस-वृद्धि । ३१. छाला=शरीर । ३२. टोटे=गरीबी में । ३४. मेख=खूँटा । ४२. उरोज हृदय को बेधते हैं, अतः उनका मुख काला होता है । ४५. पार=तट, सीमा । ४७. प्यादा, फरजी=शतरंज के खेल में मुहरे । ४९. उसी आँचल से उसे बुझा भी देते हैं । ५३. संचहि=संचित करते हैं । ६२. उदधि=समुद्र । ६४. गड़ही=बड़ा गड्ढा । ७१. हहरि=गिड़गिड़ाकर । ७५. सोस=अफसोस । ८२. कचन=बाल । ८४. सेना के घोड़े दाग दिए जाते हैं । ८५. सह साँति=शांति के साथ । अथवत=अस्त होता है । ९१. आटा लगाने से मृदंग अच्छी आवाज करता है तो फिर जिन्हें बड़े लोग अपने पास से अच्छे-अच्छे खाने खिलाते हैं, वे उसकी तारीफ अवश्य करेंगे । १०३. दमामा=एक बड़ा बाजा, ढोल । १०४. सरग-पताल=ऊँच-नीच । ११३. संपुट=जल-घड़ी का बर्तन जिसमें पानी भर जाने से समय का पता चलता है । ११४. चून=चूना । १२२. बड़री=बड़ी । १२३. रहिला=चना । १२३. तरैयन=तारा-समूह । १२६. बिषान=सींग । १२९. भावी=होनहार । १३५. सरन=तालाबों में । १४१ अमी=अमृत ।

———

जमाल

'जमाल', जैसा कि नाम से स्पष्ट है, मुसलमान कवि थे। 'मिश्रबन्धु-विनोद' में इनका जन्मकाल १५४५ ई० तथा रचनाकाल १५७० ई० दिया गया है। इनके एक दोहे में अकबर का नाम इस प्रकार आया है, जैसे अकबर इनके समकालीन थे। इसके आधार पर इनका काल १६वीं सदी में होना ठीक प्रतीत होता है। जमाल के जीवन के सम्बन्ध में कुछ विशेष ज्ञात नहीं है।

जमाल की दो रचनाओं का उल्लेख मिलता है: 'जमाल पचीसी' तथा 'भक्तमाल की टिप्पणी'। यों राजस्थान में इनके कूटकाव्यात्मक, शृंगार के और नीति के काफ़ी दोहे प्रचलित हैं, जिनकी भाषा राजस्थानी-ब्रज-खड़ीबोली का मिश्रित रूप है।

यहाँ उनके नीति के कुछ दोहे दिए जा रहे हैं—

पूनम चाँद, कुसूँभ रँग, नदी-तीर द्रुम-डाल।
रेत भीत, भुस लीपणो, ऐ थिर नहीं, जमाल ॥ १ ॥

दुतिया चाँद, मजीठ रँग, साध, वचन-प्रतिपाल।
पाहण रेख, करम्मगत, ये नहिं मिटत, जमाल ॥ २ ॥

इक रँग रंग कुसुँभ रँग, नदी-तीर द्रुम-डाल।
रेत-भींत, भुस लीपणो, किम दृढ़ रहै, जमाल ॥ ३ ॥

रंग ज चोल मजीठ का, संत, वचन-प्रतिपाल।
पाहण रेख' र करम गत, ए किम मिटै, जमाल ॥ ४ ॥

जमला, ऐसी प्रीत कर; ज्यूँ बालक की माय।
मन लै राखै पालणे, तन पाणी कूँ जाय ॥ ५ ॥

जमला, ऐसी प्रीतकर, जैसी मच्छ कराय।
टुक एक जल थी वीछड़ै, तड़फ तड़फ मर जाय ॥ ६ ॥

जमला, ऐसी प्रीत कर, जैसी निस अर चन्द।
चन्दे बिन निस साँवली, निस बिन चन्दो मन्द ॥ ७ ॥

जमला, ऐसी प्रीत कर, जैसी हिंदू जोय।
पूत पराये कारणै, जल-बल कोयला होय ॥ ८ ॥

सकल छत्रपति बस किये, अपणे ही बल बाल।
सबला कूँ अबला कहै, मूरख लोग, जमाल ॥ ९ ॥

जमला, करै त क्या डरै, कर कर क्या पछताय।
रोपै पेड़ बबूल का, आम कहाँ तें खाय ॥ १० ॥

जमला जोबन फूल है, फूलत ही कुम्हिलाइ।
जाणि बटाऊ पंथ सरि, वैसे ही उठि जाइ ॥ ११ ॥

अर्थ-संकेत

१. पूर्णिमा का चाँद, कुसुम का रंग, नदी के किनारे के पेड़ और उसकी डालें, बालू की भीत तथा भूसे से लीपना—ये कभी स्थिर नहीं होते। ४. रंग ज चोल मजीठ का =मजीठ का रंग ।'र=और। ५. ज्यूँ बालक को माय=जैसी बालक की माँ बालक से करती है। मन लै राखे=शरीर से पानी को जाती है, तब भी मन बालक के पास ही रहता है। ८. बाला अपने बल से छत्रपतियों को बस में कर लेती है। वे मूर्ख हैं जो सबला को अबला कहते हैं।

मलूकदास

मलूकदास (१५७४-१६८२ ई०) का सन्त साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनकी **साखियों में नीति** की बातें मिलती हैं और उनके प्रधान विषय मनुष्य, साधु, आडम्बर. प्रेम, **दया, हिंसा, दुर्जन,** मन, गर्व, माया तथा प्रभुता आदि हैं। नीति की दृष्टि से मलूकदास में **विषय या अभिव्यक्ति** की कोई नवीनता नहीं है। इनमें नीति के सुन्दर दोहे बहुत कम हैं। **आज जहाँ देखिए** 'पीर और गुरु' घूमते फिरते हैं। मलूकदास ने पीर की परिभाषा दी है—

मलुका सोई पीर है, जो जाने पर पीर।
जो पर पीर न जानही सो फकीर बेपीर॥

मलूकदास का भगवान् पर अटूट विश्वास था। इस सम्बन्ध में इनकी एक साखी **लोकोक्ति** की भाँति प्रचलित है—

अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम।
दास मलूका कह गए सबको दाता राम॥

मलूकदास ने प्रभुता के पीछे मरने वालों को बुरी तरह फटकारा है। **उनका कहना है कि—**

प्रभुता ही को सब मरै प्रभु को मरै न कोय।
जो कोई प्रभु को मरै, तो प्रभुता दासी होय॥

इनके कुछ छन्द हैं—

भेष फकीरी जे करै, मन नहिं आवै हाथ।
दिल फकीर जे हो रहे, साहेब तिनके साथ॥ १॥

जो तेरे घट प्रेम है, तो कहि कहि न सुनाव।
अन्तरजामी जानि है, अन्तरगत का भाव॥ २॥

सुमिरन ऐसा कीजिये, दूजा लखै न कोय।
ओंठ न फरकत देखिये, प्रेम राखिये गोय॥ ३॥

जेती देखे आतमा, तेते सालिगराम।
बोलनहारा पुजिये, पत्थर से क्या काम॥ ४॥

आतम राम न चीन्हहीं, पूजत फिरैं पषान।
कैसेहु मुक्ति न होयगी, कोटिक सुनो पुरान॥ ५॥

देवल पुजे कि देवता, की पूजे पाहाड़।
पूजन को जाँता भला, जो पीस खाय संसार॥ ६॥

हम जानत तीरथ बड़े, तीरथ हरि की आस।
जिनके हिरदे हरि बसै, कोटि तीरथ तिन पास॥ ७॥

मक्का मदिना द्वारका, बद्री और केदार।
बिना दया सब झूठ है, कहैं मलूक बिचार॥ ८॥

हरी डारि ना तोड़िये, लागै छूरा बान।
दास मलूका यों कहैं, अपना सा जिव जान॥ ९॥

सब कोउ साहेब बन्दते, हिन्दू मूसलमान ।
साहेब तिन को बन्दता, जिसका ठौर इमान ॥ १० ॥

दया धर्म हिरदे बसै, बोलै अमृत बैन ।
तेई ऊँचे जानिये, जिनके नीचे नैन ॥ ११ ॥

दाग जा लागा लील का, सौ मन साबुन धोय ।
कोटि बार समझाइया, कौवा हंस न होय ॥ १२ ॥

दुर्जन दुष्ट कठोर अति, ताकी जात न ऐंड़ ।
स्वान पूँछ सुधरै नहीं, अन्त टेढ़ की टेढ़ ॥ १३ ॥

जो मन गया तो जान दे, दृढ़ करि राखु सरीर ।
बिन जिह चढ़ी कमान का, क्या लायेगा तीर ॥ १४ ॥

कोई जीति सकै नहीं, यह मन जैसे देव ।
याके जीते जीत है, अब मैं पायो भेव ॥ १५ ॥

अर्थ-संकेत

१४. जिह = धनुष की डोरी ।

———

बैताल

बैताल जाति के बंदीजन कहे जाते हैं। इनका जीवन-काल निश्चित नहीं है। शिव सिंह सरोज ने इनका जन्म-काल सन् १६७७ ई० दिया है, पर इन्होंने अपने सभी छप्पयों में 'बैताल कहै बिक्रम सुनो' लिखा है, इस आधार पर कुछ लोगों का अनुमान है कि बैताल 'विक्रम सतसई' के प्रसिद्ध रचयिता चरखारी नरेश 'विक्रम साहि' के दरबार में थे। यदि इसे ठीक मानें तो बैताल का काल, जैसा कि शुक्ल जी ने माना है, सन् १७८२ और १८२८ ई० के बीच में पड़ता है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस सम्बन्ध में एक दूसरी ही बात लिखी है। उनका कहना है कि 'कुछ लोगों का अनुमान है कि यह सम्बोधन (बैताल कहै बिक्रम सुनो) पुराने विक्रमादित्य नामक राजा और उस बैताल की निजंधरी कथा को मन में रखकर किसी कवि ने लिखा है।' यदि इसे सत्य मानें, तो इसका आशय यह है कि 'बेताल' कवि का यथार्थ नाम नहीं था। ऐसी स्थिति में उसके समय का निर्धारण और भी कठिन हो जाता है। वास्तविकता यह है कि किसी भी ऐसे प्रामाणिक सूत्र का अभी तक पता नहीं चल सका है जिसके आधार पर बैताल का काल निश्चित किया जा सके। यही दशा इनके जीवन-वृत्त के विषय में भी है।

बैताल के नीति के छप्पय जनता में बहुत प्रचलित रहे हैं। इनमें व्यावहारिक जीवन संबंधी नीतियों को सरल और स्पष्ट ढंग से कहा गया है। रहीम, वृंद या दीनदयाल की भाँति यद्यपि बैताल ने अलंकारों द्वारा अपने छंदों में प्रभविष्णुता तथा आकर्षण लाने का प्रयास प्रायः नहीं किया है, तथापि उनमें अनूठेपन का अभाव नहीं है। इस अनूठेपन का प्रमुख सूत्र शब्दों की आवृत्ति है जो नीति की बातों को जोरदार ढंग से कहने के लिए बहुत उपयुक्त है। इन्होंने प्रायः अपने हर छंद में किसी न किसी शब्द जैसे 'जीभि', 'मरै', 'चंचल', 'मर्द', 'चुप्प' तथा 'सूनो' आदि की आवृत्ति की है।

इनकी भाषा बोलचाल की अवधी है, किंतु उसमें ब्रज के रूपों का भी प्रयोग हुआ है। इनके नीति के प्रमुख विषय दुर्जन, सज्जन, ज्ञान, धन, आदर, बुद्धि, पुत्र, कविता, मर्द, राजा, स्त्री, पंडित तथा जीभ आदि हैं।

इनका रचा हुआ कोई ग्रंथ नहीं मिलता। केवल कुछ छप्पय और कुछ दोहे मिलते हैं जिनकी संख्या ३० से कम ही है। लगता है कि इनकी रचना का अधिकांश खो गया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनको कुंडलियों का रचयिता माना है, पर अभी तक इनकी एक भी कुंडलिया मेरे देखने में नहीं आई। संभवतः इनके छप्पयों को ही लोगों ने कुंडलिया कह दिया है।

बैताल के कुछ जन-प्रचलित छप्पय यहाँ दिए जा रहे हैं—

टका करै कुल हूल टका मिरदंग बजावै।
टका चढ़ै सुखपाल टका सिर छत्र धरावै॥
टका माय अरु बाप टका भैयन को भैया।
टका सास अरु ससुर टका सिर लाड़-लड़ैया॥
अब एक टके बिनु टकटका रहत लगाये रात-दिन।
बैताल कहै बिक्रम सुनो धिक जीवन एक टके बिन॥ १॥

जीभि जोग अरु भोग जीभि बहु रोग बढ़ावै ।
जीभि करै उद्योग जीभि लै कैद करावै ।।
जीभि स्वर्ग लै जाय जीभि सब नरक दिखावै ।
जीभि मिलावै राम जीभि सब देह धरावै ।।
निज जीभि ओठ एकाग्र करि बाँट सहारे तोलिये ।
बैताल कहै बिक्रम सुनो जीभि सँभारे बोलिये ।। २ ।।

मरै बैल गरियार मरै वह अड़ियल टट्टू ।
मरै करकसा नारि मरै वह खसम निखट्टू ।।
बाँम्हन सो मरि जाय हाथ लै मदिरा प्यावै ।
पूत वही मरि जाय जु कुल में दाग लगावै ।।
अरु बेनियाव राजा मरै तबै नींद भरि सोइये ।
बैताल कहै बिक्रम सुनो एते मरे न रोइये ।। ३ ।।

राजा चंचल होय मुलुक को सरि करि लावै ।
पंडित चंचल होय सभा उत्तर दै आवै ।।
हाथी चंचल होय समर में सूँड़ि उठावै ।
घोड़ा चंचल होय झपटि मैदान दिखावै ।।
हैं ये चारों चंचल भले राजा पंडित गज तुरी ।
बैताल कहै बिक्रम सुनो तिरिया चंचल अति बुरी ।। ४ ।।

मर्द साँस पर नवै मर्द बोली पहिचानै ।
मर्द खिलावै खाय मर्द चिन्ता नहिं मानै ।।
मर्द देय औ लेय मर्द को मर्द बचावै ।
गाढ़े-सँकरे काम मर्द के मर्दै आवै ।।
पुनि मर्द उनहिं को जानिये दुख-सुख साथी दर्द के ।
बैताल कहै बिक्रम सुनो लच्छन हैं ये मर्द के ।। ५ ।।

चोर चुप्प ह्वै रहै रैन अँधियारी पाये ।
संत चुप्प ह्वै रहै मढ़ी में ध्यान लगाये ।।
बधिक चुप्प ह्वै रहै फाँसि पंछी लै आवै ।
छैल चुप्प ह्वै रहै सेज पर-तिरिया पावै ।।
पीपरपात हस्ती-स्रवन कोइ-कोइ कवि कुछ-कुछ कहैं ।
बैताल कहै विक्रम सुनो चतुर चुप्प कैसे रहैं ।। ६ ।।

सीस बिनु सूनी रैन ज्ञान बिनु हिरदै सूनो ।
कुल सूनों बिनु पुत्र पत्र बिनु तरुवर सूनो ।।
गज सूनो इक दंत, ललित बिनु सायर सूनो ।
बिप्र सून बिनु बेद, पेड़ बिनु पुहुप बिहूनो ।।
हरिनाम भजन बिनु संत अरु घटा सून बिनु दामिनी ।
बैताल कहै विक्रम सुनो पति बिनु सूनी कामिनी ।। ७ ।।

बुधि बिनु करे बेपार दृष्टि बिनु नाव चलावे ।
सुर बिनु गावे गीत अर्थ बिनु नाच नचावे ।।
गुन बिनु जाय विदेश अकल बिनु चतुर कहावे ।
बल बिनु बाँधे युद्ध हौंस बिनु हेत जनावे ।।

अनइच्छा इच्छा करे, अनदीठी कहे बात है।
बैताल कहै ब्रिक्रम सुनो, यह मूरख की जात है ।। ८ ।।

पग बिनु कटे न पंथ, बाहु बिनु हटे न दुर्जन।
तप बिनु मिले न राज्य, भाग्य बिनु मिले न सज्जन ।।
गुरु बिन मिले न ज्ञान, द्रव्य बिनु मिले न आदर।
बिना पुरुष सिंगार, मेघ बिनु कैसे दादुर ।।
बैताल कहै बिक्रम सुनो, बोल-बोल बोली हरे।
धिक्क धिक्क ये पुरुष को, मन मिलाइ अन्तर करे ।। ९ ।।

दया चट्ट ह्वै गई, धरम धँसि गयो धरनि में।
पुन्य गयो पाताल, पाप भो बरन-बरन में ।।
राजा करै न न्याव, प्रजा की होत खुवारी।
घर घर में बेपीर, दुखित मे सब नर नारी ।।
अब उलटि दान गजपति मँगै सील सँतोष कितै गयो।
बैताल कहै बिक्रम सुनो, यह कलिजुग परगट भयो ।। १० ।।

अर्थ-संकेत

१. सुखपाल = पालकी । ३. गरियार = काम से जी चुराने वाला । ७. ललित = लालित्य; ८. हौंस = हौसला, उत्साह ।

घाघ

घाघ कन्नौज के निवासी और जाति के दुबे ब्राह्मण कहे जाते हैं तथा उनका जन्म सन् १६९६ ई० में माना जाता है। हिन्दी के आचार्य शुक्ल, तथा डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि प्रायः सभी इतिहासकारों ने इन्हें 'हिन्दी का कवि' या 'लोककवि' माना है। श्री रामनरेश त्रिपाठी ने घाघ के सम्बन्ध में काफी छानबीन की है और अपने समकालीन राजा अकबर के नाम पर इनके द्वारा 'अकबराबाद सराय घाघ' नामक गाँव के बसाए जाने की बात का भी पता लगाया है (कविता कौमुदी)। उनके अनुसार उक्त गाँव आज भी है और 'सराय घाघ' या 'चौधरी सराय' नाम से पुकारा जाता है।

लगता है कि इन विद्वानों का ध्यान 'डाक' नाम के प्रसिद्ध असमी तथा उड़िया लोककवियों की ओर नहीं गया है। असमी में 'डाक' या 'दाक' नाम के प्रसिद्ध लोककवि हो गए हैं जिनके 'वचन' का संग्रह भी प्रकाशित हो चुका है। उनके छंद भी ठीक घाघ-जैसे ही हैं। बहुत से छंद तो बिल्कुल हिन्दी में प्रचलित छंदों के असमी रूपान्तर मात्र हैं। 'डाक' नाम के इसी प्रकार के एक लोककवि (जिन्होंने खेती, शकुन तथा कुछ व्यवहार संबंधी छंद लिखे हैं) का वर्णन उड़ीसा में भी मिलता है। हिन्दी के घाघ तथा इन दोनों प्रांतों के 'डाक' के छंदों के तुलनात्मक अध्ययन से लगता है कि ये तीनों एक ही कवि हैं। पर विचित्रता यह है कि हिन्दी वालों ने अपने क्षेत्र में इनका जन्म-स्थान सिद्ध किया है, उड़ीसा वालों ने अपने प्रांत में तथा असम वालों ने अपने प्रांत में (कामरूप जिले में 'लेहिडंगा' गाँव में। समय १३-१४वीं सदी)। डाक और घाघ के एक होने का एक और प्रमाण यह भी है कि हिन्दी क्षेत्र के दोनों किनारों पर अर्थात् बिहार और मारवाड़ में घाघ 'डाक' या 'डंक' नाम से पुकारे जाते हैं। ऐसी स्थिति में यह प्रायः निश्चित-सा लगता है कि ये नाम और ये छंद एक ही व्यक्ति के हैं। अब प्रश्न उठता है कि यदि एक ही व्यक्ति के छंद राजस्थान, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, बिहार, असम तथा उड़ीसा, इतने लम्बे-चौड़े क्षेत्र में स्थानीय बोलियों और भाषाओं के माध्यम से प्रचलित हैं तो उसका मूल स्थान और समय क्या हो सकता है? इस सम्बन्ध में विचार करने का उपयुक्त स्थान यह नहीं है। यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ऐसा तो नहीं है कि घाघ या डाक १००० ई० के पूर्व के कोई लोककवि थे और उस समय मारवाड़ से लेकर असम, उड़ीसा तक की भाषाओं में इतना अधिक अन्तर नहीं था, अतः इस प्रतिभा सम्पन्न अनुभवी कवि के छंद इस पूरे क्षेत्र में प्रचलित हो गए और वे ही परम्परागत रूप से लोककथाओं की भाँति भाषा-परिवर्तन के साथ रूपान्तरित होते चले जा रहे हैं और मध्य युग की किंवदंतियों ने ही सम्भवतः आज उन्हें कई स्थानों और भाषाओं का कवि बना दिया है।

इस सन्देह के बावजूद भी अभी इस सम्बन्ध में किसी असंदिग्ध निर्णय के सर्व-स्वीकृत न होने के कारण घाघ को हिन्दी का कवि मानकर प्रस्तुत संग्रह में उन्हें स्थान दिया जा रहा है।

घाघ की लिखी कोई पुस्तक नहीं मिलती। इनके नाम पर जनता में प्रचलित छंदों में शकुन, खेती तथा आचार-नीति-संबंधी बड़ी ही सटीक तथा अनुभवपूर्ण बातें सरल भाषा और सीधी शैली में कही गई हैं। इनमें काव्यत्व का प्रायः नितांत अभाव है, पर इनकी उपयोगिता इतनी अधिक है कि किसान इनके छंदों को अपने लिए प्रायः कृषि-विज्ञान की पुस्तक समझते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही लिखा है कि 'वस्तुतः साधारण

हिन्दीभाषी जनता के सलाहकार प्रधानतः तीन ही रहे हैं—तुलसीदास, गिरिधर कविराय और घाघ। तुलसी धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में, गिरिधर कविराय व्यवहार और नीति के क्षेत्र में, घाघ खेती-बारी के संबंध में।

यहाँ घाघ के कुछ लोक-प्रचलित छंद दिए जा रहे हैं—

बनिय क सखरज ठकुर क हीन। बइद क पूत-व्याधि नहिं चीन॥
पंडित चुपचुप बेसवा मइल। कहें घाघ पाँचों घर घइल॥ १॥

बाछा बैल बहुरिया जोय। न घर रहे न खेती होय॥ २॥

नसकट पनही बतकट जोय। जौ पहिलौंठी बिटिया होय॥
पातरि खेती बौरहा भाय। घाघ कहें दुख कहाँ समाय॥ ३॥

आलस नींद किसानै नासै, चोरै नासै खाँसी।
अँखिया लीबर बेसवै नासै, बावैं नासै दासी॥ ४॥

फूटे से बहि जातु हैं ढोल गँवार अँगार।
फूटे से बनि जातु हैं, फूट कपास अनार॥ ५॥

गया पेड़ जब बकुला बैठा। गया गेह जब मुड़िया पैठा॥
गया राज जहाँ राजा लोभी। गया खेत जहँ जामी गोभी॥ ६॥

घर घोड़ा पैदल चलै, तीर चलावै बीन।
थाती धरै दमाद घर, जग में भकुआ तीन॥ ७॥

खेती पाती बीनती औ घोड़े की तंग।
अपने हाथ सँवारिये लाख लोग हों संग॥ ८॥

बगड़ बिराने जो रहे, मानै तिया की सीख।
तीनों यों ही जायँगे पाही बोवै ईख॥ ९॥

बैल चौंकने जोत में औ चमकीली नार।
ये बैरी हैं जान के, कुसल करैं करतार॥ १०॥

निहपछ राजा, मन हो हाथ। साधु परोसी, नीमन साथ॥
हुक्मी पूत, धिया सतवार। तिरिया-भाई रखे विचार॥
कहें घाघ हम करत विचार। बड़े भाग से दें करतार॥ ११॥

कोपे दई, मेघ ना होइ। खेती सूखति, नैहर जोइ॥
पूत विदेस, खाट पर कंत। कहें घाघ ई बिपति क अंत॥ १२॥

आपन आपन सब कोउ होई। दुख माँ नाहिं सँघाती कोई॥
अन-बहतर खातिर झगडंत। कहें घाघ ई बिपति क अंत॥ १३॥

पूत न मानै आपन डाँट। भाई लड़ै चहै नित बाँट॥
तिरिया कलही करकस होइ। नियरा बसल दुहुट सब कोइ॥
मालिक नाहिन करै विचार। घाघ कहै ई बिपति अपार॥ १४॥

चाकर चोर, राज बेपीर। कहें घाघ का धारीं धीर॥ १५॥

परहथ बनिज संदेसे खेती। बिन बर देखे ब्याहै बेटी॥
द्वार पराये गाड़ै थाती। ये चारो मिलि पीटैं छाती॥ १६॥

घाघ बात अपने मन गुनहीं । ठाकुर भगत न मूसर धनुहीं ।। १७ ।।

अगसर खेती अगसर मार । कहैं घाघ ते कबहुँ न हार ।। १८ ।।

सधुवै दासी चोरै खाँसी, प्रेम बिनासै हाँसी ।
घाघा उनकी बुद्धि बिनासै, खायँ जो रोटी बासी ।। १९ ।।

नीचन से व्यौहार बिसाहा, हँसि के माँगत दम्मा ।
आलस नींद निगोड़ी घेरे, घग्घा तीनि निकम्मा ।। २० ।।

नारि करकसा कट्टर घोर । हाकिम होइ के खाइ अँकोर ।।
कपटी मित्र, पुत्र है चोर । घग्घा इनको गहिरे बोर ।। २१ ।।

इक तो बसो सड़क पर गाँव । दूजे बड़े-बड़ेन में नाँव ।।
तीजे परे दरबि से हीन । घग्घा हमको बिपदा तीन ।। २२ ।।

हँसुआ ठाकुर खँसुआ चोर । इन्हँ ससुरन का गहिरे बोर ।। २३ ।।

आठ गाँव का चौधरी, बारह गाँव का राव ।।
अपने काम न आय तो, अपना ऐसी-तैसी में जाव ।। २४ ।।

अम्बा नींबू बानियाँ गर दाबे रस देंय ।
कायथ कौवा करहटा मुर्दा हूँ सों लेंय ।। २५ ।।
चोर जुवारी गँठकटा, जार औ नार छिनार ।
सौ सौगन्धें खायँ जो घाघ न करु इतबार ।। २६ ।।

जिसकी छाती एक न बार । उससे सब रहियो हुसियार ।। २७ ।।

बाढ़ै पूत पिता के धर्मा । खेती उपजै अपने कर्मा ।। २८ ।।

काँटा बुरा करील का औ बदरी का घाम ।
सौत बुरी है चून की, औ साझे का काम ।। २९ ।।

माघ मास की बादरी औ कुवार का घाम ।
यह दोनों जो कोउ सहै करै पराया काम ।। ३० ।।

धौले भले हैं कापड़े धौले भले न बार ।
आछी काली कामरी काली भली न नार ।। ३१ ।।

लरिका ठाकुर, बूढ़ दिवान । ममिला बिगरै साँझ बिहान ।। ३२ ।।

ना अति बरखा ना अति धूप । ना अति बक्ता ना अति चूप ।। ३३ ।।

बिन बैलन खेती करै, बिन भैयन के रार ।
बिन मेहरारू घर करै, चौदह साख लबार ।। ३४ ।।

उत्तम खेती मध्यम बान । निषिद चाकरी भीख निदान ।। ३५ ।।

जाको मारा चाहिये बिन मारे बिन घाव ।
वाको यही बताइये घुइँया पूरी खाव ।। ३६ ।।

भेदिहा सेवक,सुन्दरि नारि । जीरन पट, कुराज दुख चारि ।। ३७ ।।

रहै निरोगी जो कम खाय । बिगरै काम न जो गम खाय ।। ३८ ।।

उत्तम खेती जो हर गहा । मध्यम खेती जो सँग रहा ।
जो पूछेसि हरवाहा कहाँ । बीज बूड़िगे तिनके तहाँ । ३९ ।।

खेती तो छोटी करे, मिहनत करे सिवाय।
राम चहें वहि मनुष को, टोटा कबहुँ न आय ॥ ४० ॥

भैंस जो जन्मे पड़वा, बहू जो जन्मे धी।
समै कुलच्छन जानिये, कातिक बरसे मी ॥ ४१ ॥

आवत आदर ना दियो, जात न दीनों हस्त।
ये दोऊ पछतायँगे, पाहुन और गृहस्त ॥ ४२ ॥

हस्त बरसे तीन होय, साली सक्कर मास।
हस्त बरसे तीन जायँ, तिल कोदो कपास ॥ ४३ ॥

करिया बादर जी डरवावै।
भूरे बदरे पानी आवै ॥ ४४ ॥

आठ कठौती मट्ठा पीवै, सोरह मकुनी खाय।
उसके मरे न रोइये, घर का दरिद्दर जाय ॥ ४५ ॥

अर्थ-संकेत

१. सखरज = शाहखर्च । बेसवा मइल = वेश्या गंदी । गइल = गया, बर्बाद हो गया । ३. नसकट = नस काटने वाला । पनही = जूता । बतकट = बात काटने वाली । पहिलौंठी = सबसे पहले की संतान । ४. लीबर = गंदी । बेसवै = वेश्या को । ६. मुड़िया = साधु-संन्यासी । गोभी = एक हरी सब्जी, एक बुरी घास । ७. मकुआ = मूर्ख । ८. पाती = पत्र, चिट्ठी । ९. सुनसान में रहने वाला, पत्नी के अनुसार चलने वाला तथा दूसरे गाँव में अपनी ईख बोने वाला, तीनों मूर्ख हैं । ११. निहपछ = निष्पक्ष । नीमन = अच्छा । सतबार धिया = सच्ची बेटी । १३. अन बहतर = अन्न-वस्त्र । १४. नियरा कोइ = निकट में सभी दुष्ट हों । १६. परहाथ = दूसरे के हाथ । संदेश दे देकर खेती करवाना । थाती = अपना धन । १७. ठाकुर न तो भक्त हो सकता है और न मूसल का धनुष बन सकता है । १८. अगसर = पहले, अग्रसर । २०. नीचों से व्यवहार करना, हँस कर अपना दाम माँगना, आलस, और नींद से घिरे रहना, घाघ कहते हैं कि तीनों ठीक नहीं होते । २१. कट्टर = अड़ने वाला । अँकोर = रिश्वत । घाघ = घाघ कवि । २२. दरब से हीन = घर में पैसों की कमी । २३. इन्हें ससुरन = इन ससुरों को । २५. आम, नीबू, बनियाँ गला दाबने से ही रस देते हैं । कायस्थ, कौवा, महाब्राह्मण मुर्दा से भी लेते हैं । ३४. रार = लड़ाई । मेहरारू = स्त्री । चौदह साख लबार = ये तीनों मूर्ख हैं । ३५. खेती सर्वोत्तम पेशा है, व्यापार उसके बाद, नौकरी निषिद्ध है और भीख बहुत ही निकृष्ट काम है । ४३. साली = धान । हस्त बरसे = हस्त नक्षत्र में पानी बरसने से । ४५. मकुनी = सत्तू भरी विशेष प्रकार की रोटी या पराठा ।

सुन्दरदास

संतों में काव्य-कला की दृष्टि से सुन्दरदास (१५९६-१६८९ ई०) का स्थान सर्वोपरि है। ये दादू दयाल के शिष्य थे। इन्होंने छोटे-बड़े कई ग्रन्थ लिखे हैं। सुन्दरदास बड़े विद्वान् थे, इसी कारण इनके ग्रन्थों में नवधा भक्ति, अष्टांग योग तथा अद्वैत मत का बड़ा सुन्दर विवेचन है। नीति की दृष्टि से इनकी साखियों तथा कवित्तों आदि में कुछ सामग्री मिल जाती है, यद्यपि कला या विषय की मौलिकता उनमें नहीं है। इनके नीति-संबंधी प्रधान विषय ज्ञान, बोलना, नारी, संसार, गुरु, शिष्य, तृष्णा, दुष्ट, संग, मन, गर्व, पेट, बात तथा साधु आदि हैं। इनके कुछ नीति के छंद नीचे दिये गये हैं—

आपने न दोष देषै पर के औगुन पेषै दुष्ट को सुभाव उठि निंदाई करतु है।
जैसे काहू महल सँभारि राष्यौ नीकै करि, कीरी तहाँ जाइ छिद्र ढूँढ़त फिरतु है ॥ १ ॥

बोलिये तौ तब जब बोलिबे की सुधि होइ,
नतौ मुख मौन करि चुप होइ रहिए।
जोरियेऊ तब जब जोरिबौऊ जानि परै,
तुक छंद अरथ अनूप जामैं लहिए।
गाइए तब जब गाइबे कौं कंठ होइ,
श्रवण के सुनत ही मन जाइ गहिए।
तुकभंग, छंदभंग अरथ मिले न कुछ,
सुन्दर कहत ऐसी बानी नहि कहिए ॥ २ ॥

किधौं पेट चूल्हा किधौं भाठी, किधौं भार आहि,
जोई कछु झोंकिये सु सब जरि जातु है।
किधौं पेट थल किधौं बाँबी किधौं सागर है,
जितौ जल परै तितौ सकल समातु है।
किधौं पेट दैत्य किधौं भूत प्रेत राक्षस है,
षाँव षाँव करै कहुँ नैकु न अघातु है।
सुन्दर कहत प्रभु कौन पाप लायौ पेट,
जब तैं जनम भयौ तब ही कौ खातु है ॥ ३ ॥

धीरज़ धारि बिचार निरन्तर तोहि रच्यौ सुतौ आपु हि ऐहै।
जैतक भूष लगी घट प्राणहि, तेतक तू अनयासहि पैहै।
जौ मन मैं तृष्णा करि धावत, तौ तिहूँ लोक न षात अघैहै।
सुन्दर तू मति सोच करै कछु, चंचु दई सोइ चूनि हु दैहै ॥ ४ ॥

कामिनी कौ देह मानौं कहिये सघन बन,
उहाँ कोऊ जाइ सुतौ भूलि कै परतु है।
कुंजर है गति कटि केहरि कौ भय जामै,
बेनी काली नागनीऊँ फन कौं धरतु है।
कुच है पहार, जहाँ काम चोर रहै तहाँ,
साधिकै कटाक्ष बान प्रान कौ हरतु है।
सुन्दर कहत एक और डर अति तामै,
राक्षस बदन षाऊँ षाऊँ ही करतु है ॥ ५ ॥

रंक को नचावै अभिलाषा धन पाइबे की,
निश दिन सोच करि ऐसैं ही पचत है।
राजहिं नचावै सब भूमि ही को राज लेव,
औरउ नचावै कोई देह सौं रचत है।
देवता असुर सिद्ध पन्नग सकल लोक,
कटि पशु पंषी कहु कैसैं के बचत हैं।
सुन्दर कहत काहू संत की कही न जाइ,
मन के नचाए सब जगत नचत है ॥ ६ ॥

बचन तैं गुरू शिष्य बाप पूत प्यारौ होइ,
बचन तैं बहु बिधि होत उतपात है।
बचन तैं नारी अरु पुरुष सनेह अति,
बचन तैं दोऊ आपु आपु मै रिसात है।
बचन तैं सब आइ राजा के हजुर होंहि,
बचन तैं चाकर ऊ छोड़ि के परात है।
सुन्दर सुबचन सुनत अति सुख होइ,
कुबचन सुनत हि प्रीति घटि जात है ॥ ७ ॥

सुंदर दुष्ट स्वभाव है, औगुन देषै आइ।
जैसे कीरी महल में, छिद्र ताकती जाइ ॥ ८ ॥

सर्प डसे सु नहीं कछु तालग, बीछु लगै सुभलौ करि मानौं।
सिंह हुँ षाइ तौ नाहिं कछू डर, जौ गज मारत तौ नहिं हानौं ॥
आगि जरौ जल बूड़ि मरौ गिरि जाय गिरौ, कछु भै मति आनौं।
'सुंदर' और भले सब ही दुख, दुर्जन संग भलो जनि जानौं ॥ ९ ॥

तूँ ठगि के धन और को ल्यावत तेरेउ तौ घर औरइ फोरै।
आगि लगै सब ही जरि जाय सु तू दमरी-दमरी करि जोरै ॥
हाकिम को डर नाहिन सूझत सुन्दर एक ही बार निचोरै।
तू खरजै नहिं आपुन षाइसु तेरिहि चातुरि तोहि लै बोरै ॥ १० ॥

पेट ही कारन जीव हवै बहु, पेट ही माँस भषै रू सुरा पी।
पेटहि लै कर चोरि करावत, पेटहि कौं गठरी गहि काषी ॥
पेटहि फाँसि गरे महि डारत, पेटहि डारत कूपहु-वापी।
सुंदर काहि को पेट दियो प्रभु, पेट सो और नहीं कोइ पापी ॥ ११ ॥

काक अरु रासभ उलूक जब बोलत हैं, तिनके तौ वचन सुहात कहि कौनन कौ।
कोकिला ऊचारौ पुनि सूवा जब बोलत हैं, सब कोऊ कान दे सुनत रव रौन कौ ॥
ताही तैं सुवचन विवेक करि बोलियत, यों ही आँक बाँक बकि तौरिय न पौन कौ।
सुन्दर समुझि के बचन कौं उचार करि, नाहीं तर चुप है पकरि बैठि मौन कौ ॥ १२ ॥

अर्थ-संकेत

९. तालग = वह भी। ११. काषी = बगल में। १२. रासभ = गधा।

रसनिधि

दतिया रियासत के अन्तर्गत बरौनी इलाके के जागीरदार पृथ्वीसिंह ने 'रसनिधि' उपनाम से कविता की है। इन्होंने प्रेम, भक्ति और शृंगार सम्बन्धी कई पुस्तकें लिखी हैं जिनमें 'रतनहजारा' अधिक प्रसिद्ध है। रसनिधि का रचना-काल सन् १६०३ से १६६० ई० तक माना गया है। 'रतनहजारा' भारत जीवन प्रेस, काशी से प्रकाशित हो चुका है जिसमें १००१ दोहे हैं। श्यामसुन्दर दास ने इसमें से ७०१ दोहे छाँटकर सतसई रूप में इसे अपने 'सतसई सप्तक' में स्थान दिया था। 'रतनहजारा' का विषय घोर शृंगार है, किन्तु इसमें प्रेम, सौंदर्य, वचन, धन, मन, मित्र, दुःख, समय, नीच, सत्य, संग, गुण, स्वभाव तथा गर्व आदि विषयों पर नीति के दोहे भी हैं।

यहाँ कुछ दोहे दिए जा रहे हैं—

चसमन चसमा प्रेम कौ पहिले लेहु लगाइ।
सुन्दर मुख वह मीत कौं तब अवलोकौ आइ ॥ १ ॥

अद्भुत गत यह प्रेम की बैनन कही न जाइ।
दरस भूख लागै दृगन भूखहिं देत भगाइ ॥ २ ॥

उरझत दृग बँधि जात मन कहौ कौन यह रीत।
प्रेम नगर मैं आइ कै देखी बड़ी अनीत ॥ ३ ॥

अरी मधुर अधरान तैं कटुक बचन मत बोल।
तनक खुटाई तैं घटै लखि सुवरन को मोल ॥ ४ ॥

मैं न कही तुहिं सौं अरे मन पर ससि के ख्याल।
एक ओर कौ प्यार है रे चकोर जंजाल ॥ ५ ॥

हित मित बिन मन धन दिये क्यौं कर सकिये पाइ।
बिन गथ सौदा हाट तैं ल्यायौ कौन बिसाइ ॥ ६ ॥

भूलैहूँ मत दरद कहु बेदरदिन के पास।
पीनसवारौ कब लहै सरस अतर की बास ॥ ७ ॥

याही तैं यह आदरै जगत माह सब कोइ।
बोलै जबै बुलाइये अनबोले चुप होइ ॥ ८ ॥

मोहन तूँ या बात कौ अपनै हियै बिचार।
बजत तमूरा कहुँ सुनै गाँठ-गठीले तार ॥ ९ ॥

बिन औसर न सुहाइ तन चंदन ल्यावै गार।
औसर की नीकी लगै भीता सौ सौ गार ॥ १० ॥

बितचोरन चितचोर मैं ब्योरो इतनौ आइ।
इन्हैं पाइ कै मारिये उनके लगिये पाइ ॥ ११ ॥

समै पाइ कै लगत है नीचहु करन गुमान।
पाय अमरपख दुजनि लों काग चहै सनमान ॥ १२ ॥

रे कुचीलतन तेलिया अपनौ मुख तौ हेर ।
सुमननि-वासे तिलन कौं कहे डारत पेर ॥ १३ ॥

फोरत काठ कठोर क्यों होत कमल मैं बंद ।
आई मो मन भँवर की इतनी बात पसंद ॥ १४ ॥

बैठत इक पग ध्यान धरि, मीनन कौं दुख देत ।
बक मुख कारे हो गए रसनिधि याही हेत ॥ १५ ॥

अमित अथाहै हौ भरे, जदपि समुद अभिराम ।
कौन काम के जो न तुम, आये प्यासन काम ॥ १६ ॥

जा गुलाब के फूल कौं सदा न रँग ठहराइ ।
मधुकर मत पच तू अरे वासौं नेह लगाइ ॥ १७ ॥

प्रेमहिं राखत सजन हिय होन देत नहिं नून ।
नुकता कौं राखै रहै जैसे हिय मैं नून ॥ १८ ॥

प्रेम चिह्न बिन जो हियौ सो यों रसिक हजूर ।
बिना मुहर की सनद ज्यों दफ्तर नामंजूर ॥ १९ ॥

हिन्दू में क्या और है मुसलमान में और ।
साहिब सब का एक है व्याप रहा सब ठौर ॥ २० ॥

अलगरजी घन सौं नहीं सुनियौ सन्त सुजान ।
अरजी चातक दीन की गरजी सुनै न कान ॥ २१ ॥

प्यास सहत, पी सकल नहिं औघट घाटनि पान ।
गज की गरुवाई परी, गजहो के गर आन ॥ २२ ॥

अर्थ-संकेत

६. गथ=धन । ७. पीनसवारौ=पीनस रोग का रोगी, जिसे गंध का पता न चलता हो । १२. अमरपख=श्राद्धपक्ष । २०. नून=फारसी का एक वर्ण जिसके बीच में विंदु होता है । २१. अलगरजी=स्वार्थी ।

———

बिहारी

बिहारी (१६०३-१६६३ ई०) की 'सतसई' का प्रधान विषय तो श्रृंगार है, पर उसमें कुछ नीति के भी दोहे हैं। इनके नीति-दोहों के प्रधान विषय स्त्री, गुण, धन, संग, स्वभाव, स्थान, भाग्य, मित्र, मन, बल, राजा, समय, इच्छा तथा संसार आदि हैं। बिहारी श्रृंगार के कवि हैं, नीति उनका प्रधान क्षेत्र नहीं है, फिर भी उनकी नीति-कविता काफी सशक्त है। भले और बुरों के सम्बन्ध में उनका एक दोहा है—

संपति केस सुदेस नर नमत दुहुन इक बानि।
विभव सतर कुच नीच नर, नरम विभव की हानि ॥

अर्थात्, अच्छे आदमी और बाल बढ़ने पर नम्र होते हैं या झुक जाते हैं, पर कुच और नीच व्यक्ति बढ़ने पर (वैभवयुक्त होने पर) कड़े होते हैं और वैभवहीन होने पर नरम होते हैं।

एक स्थान पर बिहारी कहते हैं कि अच्छों की नम्रता के कारण उनका आदर नहीं होता, किन्तु बुरे, टेढ़ाई के कारण संसार में पूजे जाते हैं—

बसै बुराई जासु तन ताहीं को सनमान।
भलो भलो कहि छोड़िये, खोटे ग्रह जपदान ॥

धन के विषय में बिहारी कहते हैं—

मीत न नीति गलीत ह्वै जो धन धरिये जोरि।
खाये खरचे जो बचै तौ जोरिये करोरि ॥

इसी सम्बन्ध में दूसरा दोहा है—

कनक कनक तें सौगुनी मादकता अधिकाय।
वा खाये बौरात है या पाये बौराय ॥

बिहारी में अन्योक्तियाँ भी बड़ी सुन्दर हैं। एक दोहा है—

कर लै सूँघि सराहि कै रहै सबै गहि मौन।
गंधी गंध गुलाब को गँवई गाहक कौन ॥

यह दोहा उन गुणियों के लिए कहा गया है जो अपने गुण का, स्थान की योग्यता का विचार किए बिना, प्रदर्शन करते रहते हैं।

ये थोड़े से उदाहरण बिहारी की नीति-कविता की कलात्मक अभिव्यक्ति स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं।

यहाँ उनके कुछ नीति के छंद 'बिहारी सतसई' से दिए जा रहे हैं—

जगतु जनायो जिहिं सकलु, सो हरि जान्यौ नाहिं।
ज्यौं आँखिनु सबु देखियै, आँखि न देखी जाहिं ॥ १ ॥

दीरघ साँस न लेहि दुख, सुख साईंहिं न भूलि।
दई दई क्यों करतु है, दई दई सु कबूल ॥ २ ॥

सीतलताऽरु सुबास कौ घटै न महिमा-मूरु।
पीनसवारैं जौ तज्यौ सोरा जानि कपूरु ॥ ३ ॥

या अनुरानी चित्त की गति समुझै नहिं कोइ।
ज्यौं ज्यौं बूड़े स्याम रँग त्यौं त्यौं उज्जलु होइ ॥ ४ ॥

घरु घरु डोलत दीन ह्वै, जनु जनु जाचतु जाइ।
दियैं लोभ-चसमा चखनु, लघु पुनि बड़ौ लखाइ ॥ ५ ॥

मैं समुझ्यौ निरधार यह जगु काँचो काँच सौं।
एकै रूपु अपार प्रतिबिंबित लखियतु जहाँ ॥ ६ ॥

बड़े न हूजै गुननु बिनु बिरद बड़ाई पाइ।
कहत धतूरे सौं कनकु, गहनौ गढ़यौ न जाइ ॥ ७ ॥

कनकु कनकु तैं सौ गुनौ मादकता अधिकाय।
उहिं खायें बौरात है इहिं पायें बौराय ॥ ८ ॥

संगति सुमति न पावहीं परे कुमति कै धंध।
राखौ मेलि कपूर मैं हींग न होइ सुगंध ॥ ९ ॥

जात जात बिनु होत है ज्यौं जिय मैं संतोषु।
होत होत जौ होइ तौ होइ घरी मै मोषु ॥ १० ॥

स्वारथु, सुकृतु न श्रमु बृथा, देखि विहंग बिचारि।
बाज पराए पानि परि तूँ पच्छीनु न मारि ॥ ११ ॥

कोटि जतन कोऊ करौ, परै न प्रकृतिहिं बीचु।
नल-बल जलु ऊँचै चढ़ै अंत नीच कौ नीचु ॥ १२ ॥

दुसह दुराज प्रजानु कौं क्यौं न बढ़ै दुख-दंदु।
अधिक अँधेरौ जग करत मिलि मावस रवि चंदु ॥ १३ ॥

गुनी गुनी सबकैं कहैं निगुनी गुनी न होतु।
सुन्यौ कहूँ तरु अरक तैं अरक-समानु उदोतु ॥ १४ ॥

प्यासे दुपहर जेठ के फिरे सबै जलु सोधि।
मरुधर पाइ मतीरु हीं मारू कहत पयोधि ॥ १५ ॥

विषम वृषदित की तृषा जिये मतीरनु सोधि।
अमित, अपार अगाध-जलु मारौ मूड़ पयोधि ॥ १६ ॥

भजन कह्यौ, तातैं भज्यौ, भज्यौ न एकौ बार।
दूरि भजन जातै कह्यौ, सो तैं भज्यौ गँवार ॥ १७ ॥

अति अगाधु, अति औथरो नदी कूपु सरु बाइ।
सो ताकौ सागरु जहाँ जाकी प्यास बुझाइ ॥ १८ ॥

कहै यहै श्रुति सुम्र्त्यौं, यहै सयाने लोग।
तीन दबावत निसकहीं पातक राजा रोग ॥ १९ ॥

जो सिर धरि महिमा मही लहियति राजा राइ।
प्रगटत जड़ता अपनियै सु मुकटु पहिरत पाइ ॥ २० ॥

कौ कहि सकै बड़ेनु सौं लखैं बड़ियौ भूल।
दीने दई गुलाब की इन डारनु वे फूल ॥ २१ ॥

समै समै सुन्दर सबै रूपु-कुरूपु न कोइ।
मन की रुचि जेती जितै तित तेती रुचि होइ ॥ २२ ॥

या भव-पारावार कौ उलँघि पार को जाइ।
तिय-छवि-छायाग्राहिनी ग्रहैं बीच ही आइ ॥ २३ ॥

दिन दस आदरु पाइ कै करि लै आपु बखानु।
जौ लगि काग सराधपखु तौ लगि तौ सनमानु ॥ २४ ॥

मरतु प्यास पिंजरा पर्‌यौ सुआ समै कैं फेर।
आदरु दै दै बोलियत बाइस बलि की बेर ॥ २५ ॥

यही आस अटक्यौ रहतु अलि गुलाब कैं मूल।
ह्वै हैं फेरि बंसत ऋतु इन डारनु वे फूल ॥ २६ ॥

वे न इहाँ नागर, बढ़ी जिन आदर तौ आब।
फूल्यौ अनफूल्यौ भयौ गँवई-गाँव, गुलाब ॥ २७ ॥

नहिं पावसु, ऋतुराज यह; तजि, तरवर चित भूल।
अपतु भएँ बिनु पाइहैं क्यौं नव दल फल फूल ॥ २८ ॥

मीत न नीति गलीतु ह्वै, जो धरियै धनु जोरि।
खाए खरचैं जौ जुरै तौ जोरियै करोरि ॥ २९ ॥

बुरौ बुराई जौ तजै तौ चितु खरौ डरातु।
ज्यौं निकलंकु मयंकु लखि गनै लोग उतपातु ॥ ३० ॥

कर लै सूँघि सराहि हूँ रहे सबै गहि मौनु।
गंधी अंध, गुलाब कौ गवईं गाहकु कौनु ॥ ३१ ॥

चटक न छाँड़तु घटत हूँ सज्जन-नेहु गंभीरु।
फीकौ परै न बरु फटै, रँग्यौ चोल-रंग चीरु ॥ ३२ ॥

को छूट्यौ इहिं जाल परि, कत कुरंग अकुलात।
ज्यौं ज्यौं सुरझि भज्यौ चहत त्यौं त्यौं उरझत जात ॥ ३३ ॥

अर्थ-संकेत

१. ज्ञानी या गुरु अपने शिष्य से कहता है कि जिस (परमात्मा) ने सारे संसार को (तुम्हें) जनाया, अर्थात् जिसके कारण तुमने संसार को जाना, उसको ही नहीं जानते। जैसे हम आँखों के द्वारा सारे संसार को देखते हैं, पर आँखों को नहीं देखते। २. दुःख में दीर्घ साँस मत लो और सुख में साईं (स्वामी, भगवान्) को मत भूलो। दई दई (हे भगवान्! हे भगवान्!) क्यों करते हो? दई (भगवान्) ने जो दिया है, उसे स्वीकार करो। ३. अगुणज्ञ के निरादर करने से गुणी के गुण की महिमा नहीं घटती। सीतलता....सुबास = शीतलता और सुगन्ध। मूरु = मूल। पीनसवारे = पीनस रोग का रोगी। ५. लोभी को छोटे भी बड़े दिखाई देते हैं। ६. निर्धार = सिद्धांत, निश्चय। काँचो = असत्य। काँच = शीशा। जगत् के विभिन्न पदार्थ एक ही ईश के अनन्त रूप की आभा हैं। ७. बिरद = प्रशंसात्मक नाम। कनकु = १. सोना, २. धतूरा। केवल प्रशंसात्मक नाम या अच्छे नाम से ही कोई बड़ा नहीं होता। ८. कनकु = १. सोना, २. धतूरा। सोना (धन) धतूरे से सौगुना उन्मत्त करने वाला होता है। ९. धंध = धंधा, झंझट। कुमति के धंधे में पड़े अच्छों की संगति से भी सुमति नहीं पाते। कपूर में रखने पर भी हींग सुगंधपूर्ण नहीं होती। १०. जिस प्रकार धन (वित्त) के नष्ट होते-होते (जात-जात) चित्त में संतोष होता जाता है कि ईश्वर की जो

इच्छा है, हो रहा है, इसमें किसी का क्या वश । उसी प्रकार धन के संचित होने के समय भी यदि संतोष हो (होते होते जो होइ) तो शीघ्र ही मोक्ष हो जाय । इस संतोष के कारण व्यक्ति धन-संचय की इच्छा से बुरे रास्ते पर नहीं चलेगा, जैसा कि लोग प्रायः करते हैं। १८. अगाध = अथाह । औथरौ = उथला, छिछला । बाइ = वापी, बावली । जिसका जिससे काम सधे, वही उसके लिए सब कुछ है । १९. श्रुति = वेद । सुम्रत्यौं = स्मृति भी । निस-कहीं = शक्तिहीन ही को । राजा, रोग तथा पाप निर्बल को ही दबाते हैं । २०. आदर के योग्य व्यक्ति या वस्तु का अनादर मूर्खता है । जिस मुकुट को सिर पर धारण कर राजा लोग महिमा को प्राप्त होते हैं, उसे यदि कोई अपने पैर में पहने तो इससे वह अपनी ही मूर्खता प्रकट करता है । मुकुट का इससे कुछ नहीं बिगड़ता । २१. बड़े यदि कोई भूल भी करें तो उनको कोई कुछ नहीं कहता । दीने = दिया । दई = देव ने, भगवान् या ब्रह्मा ने । २२. वास्तव में कुछ भी सुन्दर-असुन्दर नहीं । समय और रुचि के आधार पर ही हम किसी वस्तु को सुन्दर और किसी को असुन्दर कहते हैं । २३. छायाग्राहिनी = सिंहिका नाम की राक्षसी जो जल में रहती थी और उड़ते पक्षी आदि को छाया के आधार पर ही पकड़ लेती थी हनुमान जब लंका जा रहे थे तो उन्हें भी इसने पकड़ा, पर हनुमान ने उसे मार डाला। संसार-रूपी समुद्र को कौन पार कर सकता है । यहाँ स्त्री-रूपी छायाग्राहिणी है, अर्थात् स्त्री बहुत बड़ी बाधा है । २४. सराधपखु—श्राद्धपक्ष (पितृपक्ष) । किसी विशिष्ट अवसर पर किसी नीच व्यक्ति के गर्व करने पर काक के प्रति यह अन्योक्ति है । २५. इस अन्योक्ति में यह कहा गया है कि कभी-कभी आवश्यकता आ पड़ने पर या समय के फेर से गुणियों का निरादर और मूर्खों का आदर होता है । २६. बड़े या राजा के निर्धन हो जाने पर भी गुणी उसका साथ नहीं छोड़ते । उनको आशा रहती है कि पुनः सुख के दिन आयेंगे । इसी बात को कवि भ्रमर के प्रति अन्योक्ति रूप में कहता है । २७. आब = पानी । २८. गलीतु = दुर्गति । ३२. चोल रंग—एक विशेष लकड़ी को उबाल कर बनाया गया रंग जो कभी छूटता नहीं ।

वृंद

मेड़ते के 'वृंदावन' (१६४३-१७२३ ई०) को हिन्दी संसार 'वृंद' नाम से जानता है। इनका जन्म-स्थान राजस्थान के मेड़ते नामक स्थान में हुआ था। इनके पिता भी डिंगल के कवि थे। वृंद ने शिक्षा काशी में प्राप्त की और जोधपुर में महाराज जसवंत सिंह के दरबार में दरबारी कवि हुए। आगे चलकर ३० वर्ष की अवस्था में ये औरंगजेब के दरबार में चले गए। कुछ दिनों तक वृंद औरंगजेब के नाती अज़ीमुश्शान, कृष्णगढ़ के राजकुमार राजसिंह तथा अजमेर के सूबेदार मिर्जा कादरी के साथ भी रहे।

वृंद ने कुल लगभग एक दर्जन ग्रंथ लिखे हैं जिनमें प्रधान ग्रंथ इनकी 'सतसई' है। यह ग्रंथ 'वृंद विनोद', 'दृष्टान्त सतसई' तथा 'वृंद सतसई', 'वृंद विनोद सतसई' आदि कई नामों से प्रसिद्ध है। इसको रचना अज़ीमुश्शान के लिए १७०४ ई० में ढाका में हुई थी। इन्होंने 'हितोपदेस संधि' नाम से 'हितोपदेश' की चौथी कथा का पद्यानुवाद भी किया है।

'वृंद सतसई' हिन्दी में नीति-काव्य के सबसे प्रसिद्ध ग्रंथों में एक है। इसके प्रधान विषय धैर्य, काम, फल, देना, समय, उपकार, संग, गुण, प्रेम, सत्य, उद्योग, प्रकृति, मन, बात, होनहार, सुख-दुःख, स्वार्थ, बल, सज्जन-दुर्जन, बड़े-छोटे, स्थान, धन, कुल, राजा, शत्रु, मित्र, स्वामी, सेवक, ज्ञानी, मूर्ख, नारी, गर्व, भाग्य, दृढ़ता, अतिथि, दया, क्षमा, पेट तथा विधाता आदि हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि इसकी नीतियों का क्षेत्र बहुत व्यापक है और जीवन के अनेकानेक कोनों का स्पर्श करता है।

तुलसी के छंदों की भाँति 'वृंद सतसई' के भी बहुत से दोहे हिन्दी जनता में बहुत प्रचलित हैं और लोकोक्तियों की भाँति उद्धृत किए जाते हैं। वृंद की भाषा (ब्रजभाषा) बहुत सरल है और उनके प्रायः सभी दोहे प्रसाद गुण से ओतप्रोत हैं। सूक्तिकारिता में वृंद पूरे हिन्दी साहित्य में अद्वितीय हैं। सीधे उपदेश देने की प्रवृत्ति तो उनमें जैसे है ही नहीं। वे प्रायः सभी बातों को बड़े सटीक दृष्टान्तों से प्रमाणित करते हैं। नीचे उनके कुछ दोहे दिए जा रहे हैं—

नीकी पै फीकी लगै, बिन अवसर की बात।
जैसे बरनत जुद्ध में, नहिं सिंगार सुहात ॥ १ ॥

फीकी पै नीकी लगै, कहिए समय बिचारि।
सबको मन हर्षित करै, ज्यों बिबाह में गारि ॥ २ ॥

जो जाको प्यारो लगै, सो तिहि करत बखान।
जैसे विष को विष-भखी, मानत अमृत समान ॥ ३ ॥

जो जाको गुन जानही, सो तेहि आदर देत।
कोकिल अम्बहिं लेत है, काग निबौरी हेत ॥ ४ ॥

कहा होय उद्यम किये, जौ प्रभु ही प्रतिकूल।
जैसे उपजे खेत कौ, करत सलभ निरमूल ॥ ५ ॥

जाही ते कछु पाइये, करिये ताकी आस।
रीते सरवर पै गये, कैसे बुझत पियास ॥ ६ ॥

रस अनरस समझै न कछु, पढ़ै प्रेम की गाथ ।
बीछू मंत्र न जानई, साँप पिटारे हाथ ।। ७ ।।

कैसे निबहै निबल जन, करि सबलन सों गैर ।
जैसे बस सागर बिषै, करत मगर सों बैर ।। ८ ।।

अपनी पहुँच बिचारि कै, करतब करिये दौर ।
तेतो पाँव पसारिये, जेती लाँबी सौर ।। ९ ।।

पसुन छल्यौ नर सुजन को, करत बिसास न चूकि ।
जैसे दाध्यो दूध को, पीवत छाछहि फूँकि ।। १० ।।

विद्या-धन उद्यम बिना, कहौ जु पावै कौन ।
बिना डुलाये ना मिलै, ज्यों पंखा को पौन ।। ११ ।।

ओछे नर की प्रीति को, दीनी रीति बताय ।
जैसे छीलर ताल-जल, घटत-घटत घटि जाय ।। १२ ।।

बुरै लगत सिख के वचन, हिये बिचारो आप ।
करुई भेषज बिन पिये, मिटै न तन को ताप ।। १३ ।।

होय बड़ेरु न हूजिये, कठिन मलिन मुख रंग ।
मर्दन बन्धन छत सहत, कुच इन गुनिन प्रसंग ।। १४ ।।

बिधि रूठै, तूठै कवन, को करि सकै सहाय ।
बन-दव-भय जलगत नलिन, तहँ हिम देत जराय।। १५ ।।

फेर न ह्वै है कपट सों, जो कीजै व्यौपार ।
जैसे हाँड़ी काठ की, चढ़ै न दूजी बार ।। १६ ।।

नैना देत बताय सब, हिय को हेत अहेत ।
जैसे निरमल आरसी, भली बुरी कहि देत ।। १७ ।।

अति परचै ते होत है, अरुचि अनादर भाय ।
मलयागिरि की भीलनी, चंदन देत जराय ।। १८ ।।

सो ताके अवगुन कहै, जो जेहि चाहै नाहिं ।
तपत, कलंकी, विष-भरचौ, बिरहिनससिहिकहाहिं।। १९ ।।

बिधि के बिरचै सुजन हूँ, दुरजन सम ह्वै जात ।
दीपहि राखै पवन तें, अंचल बहै बुतात ।। २० ।।

जासो जैसो भाव सो, तैसो ठानत ताहि ।
ससिहि सुधाकर कहत कोउ, कहत कलंकी आहि ।। २१ ।।

भले बुरे जहँ एक से, तहाँ न बसिये जाय ।
ज्यों अन्यायपुर में बिकै, खरि गुर एकै भाय ।। २२ ।।

भले बुरे सब एक सों, जौं लौं बोलत नाहिं ।
जान परत हैं काक पिक, ऋतु बसंत के माहिं ।। २३ ।।

बिन गुन कुल जाने बिना, मान न करि मनुहारि ।
ठगत फिरत सब जगत को, भेष भक्त को धारि ।। २४ ।।

हितहू को कहिये न तिहिं, जो नर होय अबोध ।
ज्यों नकटे को आरसी, होत दिखाये क्रोध ।। २५ ।।

मधुर वचन तें जात मिट, उत्तम जन अभिमान।
तनिक सीत जल सों मिटै, जैसे दूध उफान ॥ २६ ॥

सबै सहायक सबल के कोउ न निबल सहाय।
पवन जगावत आग कौ, दीपहिं देत बुझाय ॥ २७ ॥

कछु बसाय नहिं सबल सों, करै निबल पै जोर।
चलै न अचल उखारि तरु, डारत पवन झकोर ॥ २८ ॥

समय समझ कै कीजिये, काम वहै अभिराम।
सैंधव माँग्यौ जीमते, घोरा को कह काम ॥ २९ ॥

जो जाही सों रचि रह्यो, तिहि ताही सों काम।
जैसे किरवा आक कौ, कहा करै बसि आम ॥ ३० ॥

रोस मिटै कैसे कहत, रिस उपजावन बात।
ईंधन डारे आग मों, कैसे आग बुझात ॥ ३१ ॥

जो जेहि भावै सो भलो, गुनको कछु न बिचार।
तजि गजमुकता भीलनी, पहिरति गुंजा-हार ॥ ३२ ॥

कुल मारग छोड़े न कोउ, होहु किते को हानि।
गज इक मारत दूसरो चढ़त महावत आनि ॥ ३३ ॥

जासों निबहै जीविका, करिये सो अभ्यास।
बेस्या पालै सील तौ, कैसे पूरे आस ॥ ३४ ॥

दुष्ट न छाँड़ै दुष्टता, कैसेहूँ सुख देत।
धोये हूँ सौ बेर के, काजर होय न सेत ॥ ३५ ॥

कहुँ अवगुण सोइ होत गुण, कहुँ गुण अवगुण होत।
कुच कठोर त्यों हैं भले, कोमल बुरे उदोत ॥ ३६ ॥

जैसो गुन दीनो दई, तैसो रूप निबन्ध।
ये दोनों कहँ पाइये, सोनो और सुगन्ध ॥ ३७ ॥

नहिं इलाज देख्यो सुन्यो, जासों मिटत सुभाव।
मधु-पुट कोटिक देत तउ, विष न तजत विषभाव ॥ ३८ ॥

कुल बल जैसो होय सो, तैसी करिहै बात।
बनिक-पुत्र जाने कहा, गढ़ लेवे की घात ॥ ३९ ॥

प्रेम निबाहन कठिन है, समुझि कीजिये काय।
भाँग भखन है सुगम पै, लहर कठिन ही होय ॥ ४० ॥

जाकी ओर न जाइये, कैसे मिलिहै सोइ।
जैसे पच्छिम दिस गए, पूरब काज न होइ ॥ ४१ ॥

प्रकृति मिले मन मिलत है, अनमिलतें न मिलाय।
दूध दही तें जमत है, काँजी तें फटि जाय ॥ ४२ ॥

बात कहन की रीति में, है अंतर अधिकाय।
एक बचन ते रिस बढ़ै, एक वचन तें जाय ॥ ४३ ॥

एक बस्तु गुन होत है, भिन्न प्रकृति के भाय।
भँटा एक को पित करत, करत एक को बाय ॥ ४४ ॥

सुख में होत सरीक सो, दुख सरीक सो होय ।
जाको मीठो खाइये, कटुक खाइये सोय ॥ ४५ ॥

स्वारथ के सबही सगे, बिन स्वारथ कोउ नाहिं ।
सेवै पंछी सरस-तरु, निरस भये उड़ि जाहिं ॥ ४६ ॥

जो लायक जिहि बात कौ, तासों तैसी होय ।
सज्जन सों न बुरी करै, दुरजन भली न कोय ॥ ४७ ॥

सुख बीते दुख होत है, दुख बीते सुख होत ।
दिवस गये ज्यों निस उदित, निस गत दिवस उदोत॥ ४८ ॥

दोष भरी न उचारिये, जदपि यथारथ बात ।
कहे अंध को आँधरो, मानि बुरौ सतरात ॥ ४९ ॥

पर घर कबहु न जाइये, गये घटत है जोत ।
रवि-मंडल में जात ससि, छीन कला छबि होत ॥ ५० ॥

एक दसा निबहै नहीं, जनि पछितावहु कोय ।
रविहूँ को इक दिवस में, तीन अवस्था होय ॥ ५१ ॥

होय सुद्ध मिटि कलुषता, सतसंगति को पाय ।
जैसे पारस को परस, लोह कनक ह्वै जाय ॥ ५२ ॥

जाहि पर्‌यो जैसे बिसन, ता बिन रहत न सोय ।
सुरा सुरापी ना तजै, जदपि बिकल गति होय ॥ ५३ ॥

या जग की बिपरीत गति, समझौ देखि सुभाव ।
कहैं जनार्दन कृष्ण कों, हर को शङ्कर नाँव ॥ ५४ ॥

जो पावै अति उच्च पद, ताको पतन निदान ।
ज्यों तपि तपि मध्यान लौं, अस्त होत है भान ॥ ५५ ॥

कलुष भाव देखैं जहाँ, उत्तम जन न रहाँय ।
पावस में सर तजि अनत, राजहंस उड़ि जाँय ॥ ५६ ॥

जिहिं प्रसंग दूषन लगै, तजिये ताको साथ ।
मदिरा मानत है जगत, दूध कलारी हाथ ॥ ५७ ॥

बिन स्वारथ कैसे सहै, कोऊ करुये बैन ।
लात खाय पुचकारिये, होय दुधारू धैन ॥ ५८ ॥

सज्जन तजत न सजनता, कीनेहू अपकार ।
ज्यों चंदन छेदै तऊ, सुरभित करत कुठार ॥ ५९ ॥

दुष्ट न छाँड़ै दुष्टता, पोखैं राखैं ओट ।
सर्पहिं केतो हित करौ, चपै चलावै चोट ॥ ६० ॥

करै बुराई सुख चहै, कैसे पावै कोइ ।
रोपै बिरवा आक कौ, आम कहाँ ते होइ ॥ ६१ ॥

होय बुराई तें बुरौ, यह कीनो निरधार ।
खाँड़ खनैगो और कौं, ताकौं कूप तयार ॥ ६२ ॥

जाको जहँ स्वारथ सधै, सोई ताहि प्रकास ।
चोर न प्यारी चाँदनी, जैसे कारी रात ॥ ६३ ॥

जैसी हो भवितव्यता, तैसी बुद्धि प्रकास।
सीता हरिबै तें भयो, रावण-कुल को नास ॥ ६४ ॥

अति ही सरल न हूजिये, देखो जौ बनराय।
सीधे-सीधे छेदिये, बाँकौ तरु बच जाय ॥ ६५ ॥

बहुतन को न बिरोधिये, निबल जानि बलवान।
मिल भखि जाहिं पिपीलिका, नागहिं नग के मान ॥ ६६ ॥

बहुत निबल मिलि बल करैं, करैं जु चाहैं सोय।
तिनकन की रसरी करी, करी निबन्धन होय ॥ ६७ ॥

दुर्जन के संसर्ग तें, सज्जन लहत कलेस।
ज्यों दसमुख अपराध ते, बन्धन लह्यो जलेस ॥ ६८ ॥

सुजन कुसङ्गति सङ्ग तैं, सज्जनता न तजन्त।
ज्यों भुजङ्ग गन सङ्ग तउ, चन्दन विष न धरन्त ॥ ६९ ॥

मिथ्या भाषी साँचहूँ, कहै न मानै कोइ।
भाँड पुकारै पीर बस, मिस समझैं सब कोइ ॥ ७० ॥

कन कन जोरै मन जुरै, काढ़ै निबरै सोय।
बूँद बूँद ज्यौं घट भरै, टपकत रीते तोय ॥ ७१ ॥

ऊँचे बैठे ना लहै, गुन बिन बड़पन कोइ।
बैठो देवल-सिखर पर, बायस गरुड़ न होइ ॥ ७२ ॥

साँच झूठ निर्णय करै, नीति-निपुण जो होय।
राजहंस बिन को करै, छीर नीर को दोय ॥ ७३ ॥

दोषहि को उमहै गहै, गुन न गहै खल-लोक।
पियै रुधिर पय ना पियै, लगी पयोधर जोंक ॥ ७४ ॥

जे पर ते पर यह समझ, अपनौ होय न कोय।
पालै पोखै काग तउ, पिक-सुत काग न होय ॥ ७५ ॥

उद्यम कबहुँ न छाड़िये, पर आसा के मोद।
गागर कैसे फोरिये, उनयो देखि पयोद ॥ ७६ ॥

कारज धीरे होत है, काहे होत अधीर।
समय पाय तरुवर फरै, केतक सींचौ नीर ॥ ७७ ॥

जो पहिले कीजै जतन, सो पाछे फलदाय।
आग लगे खोदै कुआँ, कैसे आग बुझाय ॥ ७८ ॥

क्यों कीजे ऐसो जतन, जाते काज न होय।
परबत पर खोदै कुआँ, कैसे निकलै तोय ॥ ७९ ॥

श्रम ही तें सब मिलत है, बिन श्रम मिलै न काहि।
सीधी अँगुरी घी जम्यो, क्योंहूँ निकरै नाहिं ॥ ८० ॥

कहै रसीली बात सों, बिगरी लेत सुधारि।
अधिक लौन की दाल में, ज्यों नीबू रस डारि ॥ ८१ ॥

सुधरी बिगरै बेग ही, बिगरी फिर सुधरै न।
दूध फटै काँजी परे, सो फिर दूध बनै न ॥ ८२ ॥

कबहुँ कुसङ्ग न कीजिये, किये प्रकृति की हानि ।
गूँगे कौ समझाइबो, गूँगे की गति आनि ॥ ८३ ॥

कहा करै कोऊ जतन, प्रकृत न बदलै कोइ ।
सानै सदा सनेह में, जीभ न चिकनी होय ॥ ८४ ॥

जदपि सहोदर होय तउ, प्रकृति और की और ।
विष मारै ज्यावै सुधा, उपजैं एकहि ठौर ॥ ८५ ॥

डरै न कबहूँ दुष्ट सों, जाहि प्रेम की बान ।
भौंर न छाँड़े केतकी, तीखे कण्टक जान ॥ ८६ ॥

भेस बनावै सूर को, कायर सूर न होय ।
खाल उढ़ाये सिंह की, स्यार सिंह नहि होय ॥ ८७ ॥

कैसेहू छूटत नहीं, जामें परी कुबानि ।
काग न कोयल ह्वै सकै, जौ विधि सिखवै आनि ॥ ८८ ॥

धन बाढ़े मन बढ़ि गयो, नाहिंन मन घट होय ।
ज्यों जल-सँग बाढ़ै जलज, जल घटि घटै न सोय ॥ ८९ ॥

सब तें लघु है माँगिबो, यामें फेर न सार ।
बलि पै जाँचत ही भये, बामन तन करतार ॥ ९० ॥

काम परेई जानिये, जो नर जैसो होय ।
बिन ताये खोटा खरो, गहनौ लखै न कोय ॥ ९१ ॥

चतुर-सभा में कूर नर, सोभा पावत नाहिं ।
जैसे बक सोहत नहीं, हंस मण्डली माँहि ॥ ९२ ॥

रसिक-सभा में निरस नर, होत-होत रस हानि ।
जैसे भैंसा ताल परि, मलिन करत जल आनि ॥ ९३ ॥

होत सुसंगति सहज सुख, दुख कुसङ्ग के थान ।
गन्धी और लुहार की, देखौ बैठि दुकान ॥ ९४ ॥

सुधरै बिगरि कुसंग तैं, सतसंगति को पाय ।
बासहि सीकर हींग की, जीरा संग मिटि जाय ॥ ९५ ॥

बिगरचो होय कुसंग जिहि, कौन सकै समुझाय ।
लसुन बसाये बसन कौं, कैसे फूल बसाय ॥ ९६ ॥

नीच सुसंगति के मिले, करत नीच सों प्यार ।
खर को गंग न्हवाइये, तऊ न छाड़त छार ॥ ९७ ॥

छाँड़ि सबल अरु निबल की, कबहुँ न गहिये ओट ।
जैसे टूटी डारि सों, लगै बिलम्बै चोट ॥ ९८ ॥

बात प्रेम की राखिये, अपने ही मन माँहि ।
जैसे छाया कूप की, बाहर निकसै नाहिं ॥ ९९ ॥

बाँके सीधे कौ मिलन, निबहै नाहिं निदान ।
गुनग्राही तौऊ तजत, जैसे बान कमान ॥ १०० ॥

होय न कारज मो बिना, यह जु कहै सु अयान ।
जहाँ न कुक्कुट सब्द तहँ, होत न कहा बिहान॥ १०१ ॥

गुनवारो सम्पति लहै, बिन गुन लहै न कोय ।
काढ़ै नीर पताल तैं, जो गुनयुत घट होय ॥ १०२ ॥

फल बिचारि कारज करौं, करहु न ब्यर्थ अमेल ।
तिल ज्यों बारू पैरिये, नाहीं निकसै तल ॥ १०३ ॥

दुष्ट निकट बसिये नहिं, बसि न कीजिये बात ।
कदली बेर प्रसंग तें, छिदै कंटकन पात ॥ १०४ ॥

तिनके कारज होत हैं, जिनके बड़े सहाय ।
कृस्न पच्छ पाण्डव जई, कौरव गये बिलाय ॥ १०५ ॥

अरि छोटो गनिये नहीं, जाते होय बिगार ।
तृन समूह को छिनक मैं, जारत तनक अँगार ॥ १०६ ॥

गुन तें संग्रह सब करै, कुल न बिचारै कोय ।
हरिहू मृगमद को तिलक, करत लेत जग मोय ॥ १०७ ॥

बुरो होय तउ सुकुल को, तासों बुरी न कोय ।
जदपि धुवाँ है अगरु को, करत सुगन्धित सोय ॥ १०८ ॥

ताको अरि का करि सकै, जाको जतन उपाय ।
जरै न ताती रेत सों, जाके पनहीं पाय ॥ १०९ ॥

पण्डित जन को श्रम सरम, जानत जे मति धीर ।
कबहुँ बाँझ न जानई, तन प्रसूत की पीर ॥ ११० ॥

नृप प्रताप तें देश मैं, रहे दुष्ट नहीं कोय ।
प्रगटे तेज दिनेस को, तहाँ तिमिर नहिं होय ॥ १११ ॥

यहै बात सबही कहै, राजा करै सु न्याव ।
ज्यों चौपर के खेल में, पासो परै सु दाव ॥ ११२ ॥

कारज ताही को सरै, करै जु समै निहारि ।
कबहुँ न हारै खेल मैं, खेलै दाँव बिचारि ॥ ११३ ॥

सब देखै पै आपनो, दोष न देखै कोइ ।
करै उजेरो दीप पै, तरे अँधेरो होइ ॥ ११४ ॥

सन्त कष्ट सह आपुही, सुखि राखौ जु समीप ।
आपु जरै तउ और कों, करै उँजेरो दीप ॥ ११५ ॥

मारै इक रच्छा करै, एकहि कुल को होय ।
ज्यों कृपान अरु कवच ये, एक लोह सों दोय ॥ ११६ ॥

अपनी अपनी ठौर पर, सबको लागै दाव ।
जल में गाड़ी नाव पर, थल गाड़ी पर नाव ॥ ११७ ॥

बड़े अनीत करैं तऊ, बुरो कहै नहिं कोय ।
बालि हत्यो अपराध बिन, ताहि भजै सब कोय ॥ ११८ ॥
उत्तम जन सों मिलत हीं, अवगुन हूँ गुन होय ।
घन सँग खारो उदधि मिलि, बरसै मीठो तोय ॥ ११९ ॥

कोऊ दूर न करि सकै, विधि के उलटे अङ्क ।
उदधि पिता तउ चन्द्र को, धोय न सक्यो कलङ्क ॥ १२० ॥

करत करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान ।
रसरी आवत जात है, सिल पर होत निसान ॥ १२१ ॥

सुन्दर थान न छोड़िये, जौ लौ मिलै न और ।
पिछलौ पाय उठाइये, देखि धरन की ठौर ॥ १२२ ॥

सब सुख है सन्तोष मैं, धरिये मन सन्तोष ।
नैक न दुरबल होत है, सर्प पवन के पोष ॥ १२३ ॥

पाय परेहू पिशुन सों, बिससि न करिये बात ।
नमत कूप को डोल ज्यों, जीवन हर लै जात ॥ १२४ ॥

सोई अपनो आपनौ, रहै निरन्तर साथ ।
होत परायो आपनौ, सस्त्र पराये हाथ ॥ १२५ ॥

बिनसत बार न लागई, ओछे नर की प्रीति ।
अम्बर डम्बर साँझ के, ज्यों बारू की भीति ॥ १२६ ॥

बड़े बचन पलटैं नहीं, कहि निर्बाहैं धीर ।
कियो बिभीषण लंकपति, पाय बिजै रघुबीर ॥ १२७ ॥

नियमित जननी-उदर मैं, कुल को लेत सुभाव ।
उछरत सिंहिन को गरभ, सुनि गरजन घनराव॥ १२८ ॥

बहुत न बकिये, कीजिये, कारज अवसर पाय ।
मौन गहे बक दाव पर, मछरी लेत उठाय ॥ १२९ ॥

अपनी कीरति कान सुनि, होत न कौन सुख्याल ।
नाग मंत्र के सुनत ही, विष छोड़त है ब्याल ॥ १३० ॥

अन्तर अँगुरी चार को, साँच झूठ में होय ।
सब माने देखी कही, सुनी न माने कोय ॥ १३१ ॥

कारन बिन कारज नहीं, निहचै मान बचन्न ।
करै रसोई जो मिलै, आग इँधन जल अन्न ॥ १३२ ॥

परी बिपत तें छूटिये, करिये जोर उपाव ।
कैसे निकसै जतन बिन, परी भौंर मे नाव ॥ १३३ ॥

होय भले के सुत बुरौ, भलौ बुरे के होय ।
दीपक तें काजर प्रगट, कमल कीच तें होय ॥ १३४ ॥

सबकी समै बिनास मैं, उपजति मति बिपरीत ।
रघुपति मार्‌यो लंकपति, जौ हरिलै गयो सीत ॥ १३५ ॥

सुख सज्जन के मिलन कौं, दुर्जन मिलै जनाय ।
जानै ऊख मिठास कौं, जब मुख नीम चबाय ॥ १३६ ॥

जाहि मिले सुख होत है, ता बिछुरे दुख होय ।
सूर उदय फूलै कमल, ता बिन सकुचै सोय ॥ १३७ ॥

छोटे मन मैं आइहै, कैसे मोटी बात ।
छेरी के मुँह मैं दियो, ज्यों पेठा न समात ॥ १३८ ॥

कहिबौ कछु करिबौ कछू, है जग की विधि दोय ।
देखन के अरु खान के, और दुरद-रद होय ॥ १३९ ॥

जो करिये सो कीजिये, पहले करि निरधार ।
पानी पी घर पूछनो, नाहिन भलौ बिचार ॥ १४० ॥

झूठ बिना फीकी लगे, अधिक झूठ दुख-भौन ।
झूठ तितौई बोलिये, ज्यों आटे में लौन ॥ १४१ ॥

ठौर देखके हूजिये, कुटिल सरल गति आप ।
बाहर टेढ़ो फिरत है, बाँबी सूधौ साँप ॥ १४२ ॥

दोऊ चाहैं मिलन कौं, तौ मिलाप निर्धार ।
कबहूँ नाहिन बाजिहै, एक हाथ सों तार ॥ १४३ ॥

भाग-हीन कौं ना मिलै, भली वस्तु कौ भोग ।
दाख पके, मुख पाक कौ, होत काग को रोग ॥ १४४ ॥

सूर-बीर के बंस मैं, सूर-बीर सुत होय ।
ज्यों सिंहिनि के गर्भ मैं, हिरन न उपजै कोय ॥ १४५ ॥

करै न कबहूँ साहसी, दीन हीन कौ काज ।
भूख सहै पै घास कौ, नाहिं भखै मृगराज ॥ १४६ ॥

नीचहु उत्तम सङ्ग मिलि, उत्तम ही ह्वै जाय ।
गंग संग जलह्यहू, गंगोदक के भाय ॥ १४७ ॥

इक गुन तैं शोभा लहैं, इक अवगुन अवरोह ।
सोभ उरोजन पीनता, त्यों कटि कृसता सोह ॥ १४८ ॥

अपनी प्रभुता कौं सबै, बोलत झूठ बनाय ।
बेस्या बरस घटावहीं, जोगी बरस बढ़ाय ॥ १४९ ॥

सुनि सुख मीठी बात कौ, को चाहत कटु बात ।
चाखि दाख के स्वाद कौ, कौन निबौरी खात ॥ १५० ॥

प्रेमी प्रीत न छाँड़ ही, होत न प्रन तैं हीन ।
मरे परेहू उदर में, ज्यों जल चाहत मीन ॥ १५१ ॥

अवसर बीते जतन कौ, करिबौ नहिं अभिराम ।
जैसे पानी बह गए, सेतु बन्ध किहि काम ॥ १५२ ॥

दुष्ट संग बसिये नहीं, दुख उपजत इहि भाय ।
घँसत बंस को अगिन तैं, जरत सबै बनराय ॥ १५३ ॥
कहूँ कहूँ गुन तैं अधिक, उपजत दोष सरीर ।
मधुरी बानी बोलिकै, परत पींजरा कीर ॥ १५४ ॥

कछु कहि नीच न छेड़िये, भलौ न वाको संग ।
पाथर डारै कीच में, उछरि बिगारे अंग ॥ १५५ ॥

बिना दिये न मिलै कछू, यह समझौ सब कोय ।
देन सिसिर मैं पात तरु, सुरभि सुपल्लव होय ॥ १५६ ॥

दूर कहा नियरै कहा, होनहार सो होय ।
जड़ सींचे नारेल के, फल मैं प्रकटै तोय ॥ १५७ ॥

आये आदर ना करै, पीछे लेत मनाय ।
घर आये पूजै न अहि, बाँबी पूजन जाय ॥ १५८ ॥

अपने अपने समय पर, सबको आदर होय ।
भोजन प्यारो भूख मैं, तिस मैं प्यारो तोय ॥ १५९ ॥

मीठी कोऊ बस्तु नहिं, मीठी जाकी चाहि ।
अमली मिसरी छाड़िकै, आफू खात सराहि ॥ १६० ॥

ऊपर दरसै सुमिल सी, अन्तर अनमिल आँक ।
कपटी जन की प्रीति है, खीरा की सी फाँक ॥ १६१ ॥

खाय न खरचै सूम धन, चोर सबै लै जाय ।
पीछे ज्यों मधुमच्छिका, हाथ मलै पछताय ॥ १६२ ॥

दान दीन को दीजिये, मिटै दरिद की पीर ।
ओषधि वाको दीजिये, जाके रोग सरीर ॥ १६३ ॥

सबसों आगे होय कै, कबहूँ न करिये बात ।
सुधरै काज समाज फल, बिगरै गारी खात ॥ १६४ ॥

उत्तम विद्या लीजिये, जदपि नीच पै होय ।
पर्यो अपावन ठौर को, कंचन तजत न कोय ॥ १६५ ॥

दुष्ट न छाँड़ै दुष्टता, बड़ी ठौरहू पाय ।
जैसे तजत न स्यामता, विष शिवकण्ठ बसाय ॥ १६६ ॥

धन अरु गेंद जु खेल को, दोऊ एक सुभाय ।
कर में आवत छिनक में, छिन में कर ते जाय ॥ १६७ ॥

धन अरु जोबन को गरब, कबहूँ करिये नाँहि ।
देखत ही मिट जात हैं, ज्यों बादर की छाँहि ॥ १६८ ॥

सेवक सोई जानिये, रहै बिपति में संग ।
तन-छाया ज्यों धूप में, रहै साथ इक रंग ॥ १६९ ॥

दुष्ट रहै जा ठौर पर, ताको करै बिगार ।
आगि जहाँ ही राखिये, जारि करै तिहि छार ॥ १७० ॥

तुला-सुई की तुल्यता, रीति सजन की दीठि ।
गरुवे दिसि ने जाति है, हरुवे को दै पीठि ॥ १७१ ॥

बहुत द्रव्य संचै जहाँ, तहाँ चोर-भय होय ।
कांसे ऊपर बीजुरी, परति कहैं सब कोय ॥ १७२ ॥

बिद्या बिनु न बिराजही, जदपि सरूप कुलीन ।
ज्यों सोभा पावै नहीं, टेसू बास-बिहीन ॥ १७३ ॥

छमा-खड्ग लीने रहै, खल कौ कहा बसाय ।
अगिन परी तृन-रहित थल, आपुहि तें बुझि जाय ॥ १७४ ॥

जिहि जैसो अपराध तिहि, तैसो दण्ड बखानि ।
थाप ककरिया चोर कौ, धन-चोरहि जिय हानि ॥ १७५ ॥

ओछे नर के पेट में, रहै न मोटी बात ।
आध सेर के पात्र में, कैसे सेर समात ॥ १७६ ॥

गूढ़ मंत्र जौं लौं रहे, करै जु मिलि जन दोय।
भई छकानी बात तब, जानि जात सब कोय ॥ १७७ ॥

कबहूँ प्रीति न जोरिये, जोरि तोरिये नाहिं।
ज्यों तोरे जोरे बहुरि, गाँठ परति गुन माँहि ॥ १७८ ॥

अन्तर तनिक न राखिये, जहाँ प्रीति व्यवहार।
उर सों उर लागे न तहँ, जहाँ रहतु है हार ॥ १७९ ॥

काहू सो हँसिये नहीं, हँसी कलह कौ मूल।
हाँसी ही ते है भयो, कुल पांडव निरमूल ॥ १८० ॥

दुरजन गहत न सजनता, जतन करौ किन कोइ।
जो पै जौ को रोपिये, कबहुँ सालि न होइ ॥ १८१ ॥

सरसुति के भंडार की, बड़ी अपूरब बात।
ज्यों खरचै त्यों-त्यों बढ़ै, बिन खरचे घटि जात ॥ १८२ ॥

देखा देखी करत सब, नाहिन तत्व-बिचार।
याकौ यह अनुमान है, भेड़-चाल संसार ॥ १८३ ॥

निबल जानि कीजै नहीं, कबहूँ बैर बिबाद।
जीते कछु सोभा नहीं, हारे निन्दा बाद ॥ १८४ ॥

इनकौं मानुष जन्म दै, कहा कियो भगवान।
सुन्दर मुख बोल न सकै, दे न सकै धनवान ॥ १८५ ॥

कहा कहौं बिधि की अबिधि, भूले परम प्रबीन।
मूरख को सम्पति दई, पंडित सम्पतिहीन ॥ १८६ ॥

बिद्या लक्ष्मी पुरुष पै, होय नहीं इक ठाँय।
नाहिन सुख द्वै सौति में, पिय पै एकहि जाय ॥ १८७ ॥

(वृंद सतसई से)

अर्थ-संकेत

३. विष-भखी = विष खाने वाला। ५. सलभ = टिड्डी। ८. गैर = गैर-भाव, विरोध। १२. छीलर = छिछला, उथला। १४. बड़ेरु = बड़े। छत = नखक्षत। १५. बन-दव-भय = वन की आग के भय से। १९. विरहिणी शशि को तप्त, कलंकी, जहर से भरा कहती है। २०. बुतात = बुझाता है। २२ खरि गुर एकै भाय = खली और गुड़ एक भाव बिकते हैं। ३०. किरवा = कीड़ा। ३६. उदोत = प्रकाशित हैं, ज्ञात हैं। ४९. सतरात = नाराज होता है। ५३. सुरापी = शराबी। ५४. जनार्दन = जन को पीड़ा पहुँचाने वाला, शंकर = कल्याण करने वाला। जबकि कृष्ण और महादेव विश्वपोषक (विष्णु रूप में) और संहारक (महेश रूप में) हैं। ५८. धैन = गाय। ६०. चपै = दबने पर। ६२. खाँड़ = गड्ढा। ६५. बनराय = वृक्ष। ६६. पिपीलिका = चींटी। नागहि नग के मान = पहाड़ के मानिंद हाथी को। ७४. उमहै = खोजे। ८५. सीकर = छींटा। ८८. बिलंबै = देर-सबेर। १०१. कहा = क्या। १०२. गुन = १. गुण, २. रस्सी। १२४. जीवन = पानी। १२९. मछरी = मछली। १३९. दुरद = द्विरद, हाथी। १४२. बाँबी = बिल। १४४. कहा जाता है कि अंगूर पकने पर कौए का मुँह पक जाता है। १४७. जलहृयहू = कुंड का जल भी। १६०. आफू = अफीम। १७५. थाप = थप्पड़। १७८. गुन = रस्सी। १८४. बाद = बदनामी।

उदयराज जती

जैन कवि उदयराज जती का रचना-काल १७वीं सदी का प्रथम चरण है। कामता प्रसाद जैन ने अपने 'हिन्दी जैन-साहित्य के संक्षिप्त इतिहास' में उन्हें बीकानेर-नरेश रामसिंह का आश्रित माना है। उन्होंने इनके राजनीति-संबंधी कुछ दोहों का उल्लेख किया है। डॉ० रामस्वरूप शास्त्री ने अपने 'हिन्दी नीतिकाव्य का विकास' नामक अप्रकाशित प्रबंध में इनके तीन ग्रन्थों 'उदय राज रा दूहा' (रचना-काल १६०३ ई०), 'गुणबावनी' (रचना-काल १६१६) और स्फुट पद्य-संग्रह का उल्लेख किया है। श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी से मुझे कुछ दिन पूर्व पता चला था कि उन्होंने जती जी का लिखा एक और ग्रंथ राजस्थान में कहीं देखा था। एक हस्तलिखित प्रति में मुझे उनके कुछ दोहे-चौपाई भी मिले थे। इस प्रकार इनके कई ग्रंथों के होने का अनुमान लगाना स्वाभाविक ही है। इन्होंने वीर, शान्त और श्रृंगार रस के भी पर्याप्त छंद लिखे हैं। इनके जीवन के सम्बन्ध में विशेष नहीं ज्ञात है। इनकी नीति की कविता के प्रमुख विषय हँस-खेल कर जीवित रहना, दया, सज्जन, दुर्जन, स्वार्थ, शिक्षा, धर्म, निंदा, मन, धन, दान, गुण, लोभ आदि हैं। इनकी भाषा खड़ीबोली और ब्रजमिश्रित है, यद्यपि राजस्थानी का प्रयोग भी किया गया है। कहीं-कहीं पंजाबी का प्रभाव भी स्पष्ट है। इनके अनेक छंद रहीम और वृंद की कोटि के हैं। कहीं-कहीं संस्कृत नीतिकाव्य का भी इन पर प्रभाव पड़ा है। नीचे कुछ छन्द दिए जा रहे हैं—

उदै सीख कहि क्यों दिए, सीख दिया दुख होइ।
अपनी करनी चालणी, बुरी न देखै कोइ ॥ १ ॥

आछा खावै सुख सुवै, आछा पहिरे सोइ।
अति आछो रहणी रहै, मरै न बूढ़ा होइ ॥ २ ॥

स्वारथ प्यारो कवि उदै, कहै बड़े सो साँच।
जल लेबा के कारणे, नमत कूप कूँ चाँच ॥ ३ ॥

अति न करौ कहि कवि उदै, अति कर रावन कंस।
आप गयौ जानत सकल, गयौ सँपूरन बंस ॥ ४ ॥

उदै राज खेलौ हँसौ, मनिखा देही सार।
इह सगपण जिवतन मिलण बहुरि न दूजी बार ॥ ५ ॥

कौड़ी सों किंकर आगे ही दौड़त, कौड़ी से काम करै सभ दौड़ी।
कौड़ी से कायर सूर सों होवत, जाति में आगे रहत हथजोड़ी।
कौड़ी से नृत्य वदित्र बनै, अरु कौड़ी से राग करै गान गौड़ी।
उदै जती कहैं या जग में, आज सोइ बड़ो जाकि गाँठ है कौड़ी ॥ ६ ॥

आँखि नहीं है आँखि, सुख-दुख जिन देखौ नहीं।
पाँव नहीं है पाँव, निच-उँच जिनि चालो नहीं ॥ ७ ॥

सज्जन मिलण समान कछु, उदै न दूजी बात।
सेत पीत चूनौ हरद, मिलत लाल ह्वै जात॥ ८॥

सूर सुख्ख अरु दुख्ख को, दोउ गिणो विचार।
जेतौ जुग भई चाँदणों, ते तौ पख अंधार॥ ९॥

अर्थ-संकेत

३. चाँच = कुएँ में डाला जाने वाला लकड़ी का ढाँचा। ५. सगपण = समापन।

— —

जान कवि

शाहजहाँ के कृपापात्र और सम्बन्धी नवाब अलफ़ खाँ के पुत्र न्यामत खाँ (रचना-काल १६१० ई०-१६५८ ई०) का उपनाम 'जान कवि' है। ये अपने पिता के दूसरे पुत्र थे। इन्होंने कुल लगभग ७० ग्रंथ लिखे हैं जिनमें से कनकावती, कामलता, मधुकर मालती, रतनावति और छीता आदि २१ प्रेमाख्यानक काव्य हैं। इस प्रकार ये प्रमुख रूप से सूफी प्रेमाख्यानक परम्परा के कवि हैं, किन्तु इन्होंने कई छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ नीति तथा उपदेश की भी लिखी हैं जिनमें से प्रमुख चेतननामा, सिष ग्रंथ, सुधासिष, बुधिदायक, बुधिदीप, सत्तनावा, वर्णनामा, सिषसागर पंदनावा तथा लुकमान पंदनामा आदि हैं। इनके प्रमुख नीति-विषय धर्म, भगवान्, क्रोध, सत्य, संग, प्रेम, मन, मृत्यु, राजा, वचन, गर्व, जवानी, स्त्री, स्वास्थ्य तथा अनुशासन आदि हैं। जान के नीति के छंद कुछ तो गिरिधर कविराय की भाँति की उपदेशात्मक तथा पद्य मात्र हैं और कुछ वृंद आदि की भाँति की सूक्तियाँ भी हैं, यद्यपि उनमें सर्वत्र रहीम और वृंद जैसी प्रभविष्णुता नहीं है। इनकी भाषा ब्रज है। भाषा पर इनका अच्छा अधिकार ज्ञात होता है। नीति के लिए इन्होंने प्रमुखतः दोहा और सोरठा छंद का प्रयोग किया है। नीचे इनके कुछ छंद सत्तनावा, सिषसागर पंदनावा तथा लुकमान पंदनामा से दिए जा रहे हैं—

सती अमर जग माहि, सुजस जगमगै भानुज्यौं।
असती जैसे छाँहि, पलक माहि ढरि जाहिगे ॥ १ ॥

देखै बिनु द्रिगु ना रहै, बात सुनै बिनु कान।
रसना रहै न बचन बिनु, नासिक चाहै घ्रान ॥ २ ॥

ठौर ठौर मनमथ फिरत, कोऊ छूट्यो नाहिं।
मानस की कहिए कहा, पसु पंछिन हू माहिं ॥ ३ ॥

जो न समावै जगत मैं ऐसा रूप अपार।
सो मन माहिं समाइहै, तकहु प्रेमु अधिकार ॥ ४ ॥

मन सौ मित न कोइ, जौ अपने बस होत है।
कहै माँहि ना होइ, तो ऐसो अरि और ना ॥ ५ ॥

(सत्तनावा से)

ताकौं ढील न कीजिए ह्वै जु धरम को काजु ।
को जानैं कल ह्वै कहा करिबो सो करि आजु ॥ ६ ॥

परज्या कौ रक्षा करै सोई स्वामि अनूप ।
तर सब कौं छहियाँ करै, सहै आप सिर धूप ॥ ७ ॥

रिसु कै बस ना हूजिए, कीजै बात बिचार ।
पुनि पछिताये ह्वै कहा, जो ह्वै जाइ बिगार ॥ ८ ॥

न्याव न कोऊ पाइहै, परै लालची काम।
सोई साचे होत है जाकी गँठिया दाम ॥ ९ ॥

परजा जानहु मूल तुम्ह राजा ब्रिच्छ बिचार ।
अपनी जर्राहि उषारिहै, परजा षोवनहार ॥ १० ॥

आदुर दये कुजात कूँ नाहिन होत सुजात ।
धोये गोरो ह्वै नहिं हबसी कारो गात ॥ ११ ॥

ऐसो रूष लगाइये जो ह्वै है फलवान ।
ब्रिच्छ कटीलौ पालिये यामै कौन सयान ॥ १२ ॥

उत्तम पुरुषन की सभा रहिये, निसदिन चाहि ।
मूढ़ नरन संग जो रहै, घटि जैहैं बुधि ताहि ॥ १३ ॥

सनमुष उज्जल मुष मिलै, पीठ दये अँधियार ।
दुबिधा तज तन आरसी तकू परन मुख छार ॥ १४ ॥

घटै बढ़ै निकसै छपै ससि कपटी की पीत ।
सदा रहै सम भाइ ही साधु सूर की रीत ॥ १५ ॥

मूरिख सिष मानत नहीं, सुक ज्यों पढ़त न काग ।
बहरै आगै बाँसुरी बाजे लषै न राग ॥ १६ ॥

दुष दै को न रुसाइये कहत जान सुन मित्त ।
ये ते फूटे ना जुरैं, सीसा मुकता चित्त ॥ १७ ॥

मूरख औरहि देत दुष राषत सुख अभिलाष ।
वै इदराइन बेल कौ षायौ चाहत दाष ॥ १८ ॥

छिद्र परायौ भाषिहै, अपनौ सूझत नाहि ।
ताकौं ग्याँनी जिन कहौ, है वहु मुगधनि माहि ॥ १९ ॥

अपनै मन कौ भेदु निजु काहू सौं जिन भाषि ।
वहु काहे राषै दुर्यौ जौ तू सक्यौ न राषि ॥ २० ॥

तीन भाँति के द्रुजन हैं पंडित कहत बिचित्र ।
अप बैरी, बैरी सजन, पुनि द्रुजनन कौ मित्र । २१ ॥

दुष दीने हूँ देत सुष उत्तम पुरुष सुजानि ।
कंचन जेतौ ताइये, तेतौ बारह बानि ॥ २२ ॥

छिद्र छपावै, गुन कहै सदा रहै इक रंग ।
निकट अनत नित येक सम गहिये ताको संग ॥ २३ ॥

करै निरादर गोत कौ नाहिन लज्जा गात ।
निहचै वा कुल को नहीं, है कछु औरैं बात ॥ २४ ॥

जानि लेहु कवि जान कहि, सो राजत संपूर ।
जामै ह्वै ये तीन गुन न्याई दाता सूर ॥ २५ ॥

सो पंक्षी पिंजरै परै जो बोले बहु भाषि ।
ना बोलै तिहि ना गहै, करै न को अभिलाष ॥ २६ ॥

भेद न बालक सौं कहै, जौं वासौं मन मेल ।
जहाँ तहाँ परगट करै, वाके भाये षेल ॥ २७ ॥

जाकौं तैं कछु दुष दयौ, बेगि ताहि सुष देहि ।
कहा जानिये पलक मैं जिन ज्यों छाड़ै देहि ॥ २८ ॥

जो कछु जैहै हाथ तें, काहू न ताकौ सोग ।
रोग अंग कौ बहुत हैं, चिता चित कौ रोग ॥ २९ ॥

इक भाजन मैं दस मनुष, आछौ भोजन षात ।
कूकर दोई करंक पर, लर लर मरहि कुजात ॥ ३० ॥

कुटिल मनुष ते भाजिहै, जाकौ सूधौ प्रान ।
ज्यों कमान ते छूटि कै, भाज जात है बान ॥ ३१ ॥

सदा झूठहीं बोलिहैं, तिहि आदर घटि जाइ ।
कबहू बोलै साँचु वहु, तऊ न को पतियाइ ॥ ३२ ॥

हँसि हँसि परिहै आपुही, बिनु हाँसी की ठौर ।
ताते रोवन है भलौ कहत गुनी सिरिमौर ॥ ३३ ॥

करै बीनती तौ करहु, दुरजन हूँकौ काज ।
अपनी करनी देषि ज्यों, वाकौ आवै लाज ॥ ३४ ॥

काहू की चिंता नहीं, है अपनी ही चाहि ।
अप आराधी होत है, अपराधी सो आहि ॥ ३५ ॥

नये धनेसु जो होत है, अमित गर्ब तिहि होइ ।
तासौं बन जन कीजिए कहत सयाने लोइ ॥ ३६ ॥

जौ धनेस हैं आदि लौं, सो ना करत गुमान ।
जैसे अमली को अमल नाहिन खोवत ज्ञान ॥ ३७ ॥

भिच्छक लच्छी पाइ है, सूधै परै न पाइ ।
अन अमली को अमल तें थोरै मैं सुधि जाइ ॥ ३८ ॥

पाँच बात ये जगत मैं, निबहत नाहि निदान ।
लच्छी, सुष, दुष, रूप, छबि, तरुनाई कहि जान ॥ ३९ ॥

(सिषसागर पंदनावा से)

बिनु पहिचाने जीय की बतिया भूलन भाषि ।
भेदु आपनौं सबनि तें सदा दुरायौ राषि ॥ ४० ॥

भलै बुरै तो मनुष की क्रोध कसौटी आहि ।
रिस उपजें धीरज धरें नीकौ जानौं ताहि ॥ ४१ ॥

जो कोऊ कछु देत तुहि तौ तू हित सौं लेहि ।
वाके बदलै कौ कछू वातै दूनौ देहि ॥ ४२ ॥

मन मैं भलै बिचारि के जैसी आमद होइ ।
तैसो ही करिहै षरच भलौ दिखावै सोइ ॥ ४३ ॥

नारिन सौं लरिकान सौ भेद कहौ जिन कोइ ।
वै दुराइ जानत नहीं निहचै परगट होइ ॥ ४४ ॥

राजा की बुधि जात है किए निबुधि परधान ।
जैसे रंचक बादुरी ढाँपति है दुतिभान ॥ ४५ ॥

(पंद नावा से)

जा के घर में होइ सत पति सो हित ठहराइ ।
शील बिना 'कवि जान' कहि घर घर रूप बिकाइ ॥ ४६ ॥

भली नहीं मिहरी को जाति, जब तब इनसे पानिउ जात ।
जो तिय अपनो खोवै सील, मारहु ताकि न लावहु ढील ।। ४७ ।।

(कथा छविसागर से)

अर्थ-संकेत

१. सती = सत्य का पालन करने वाला, सत्य बोलने वाला । ३. मानस = मनुष्य । ८. रिसु = क्रोध । ६. न्याव = न्याय । गँठिया = गाँठ में । १२. सयान = चतुराई, सज्ञानता । १८. बै = बेकार । २५. संपूर = संपूर्ण रूप से । ३५. अप = बुरा । ३७. अमली = नशे का आदी । अमल = नशा । ३८. लच्छी = लक्ष्मी । ४५. बादुरी = बदली, बादल ।

भूपति

'भूपति' नाम के हिंदी में दो प्रसिद्ध कवि हो गए हैं। एक तो थे अमेठी के राजा गुरुदत्त सिंह, जिनका रचना-काल शुक्ल जी के अनुसार सन् १७३४ ई० के आसपास है। इन्होंने 'सतसई' के अतिरिक्त 'कंठाभूषण' तथा 'रस-रत्नाकर' नाम के दो रीतिग्रंथ भी संभवतः लिखे थे। दूसरे भूपति थे इटावे के एक कायस्थ कवि, जिनके पिता का नाम 'लेखराज' कहा जाता है। यहाँ हमारा संबंध दूसरे भूपति से है। इनके लिखे दो ग्रंथ कहे जाते हैं। एक तो 'भूपति सतसई' और दूसरा भागवत के दशम स्कंध का पद्यबद्ध अनुवाद। भूपति का रचना-काल विवादास्पद है। डॉ० श्यामसुन्दर दास ने बहुत पहले इनका रचना-काल १३वीं सदी निश्चित किया था। बाद में मुंशी देवीप्रसाद तथा भगवान दीन आदि कई विद्वानों ने सरस्वती, शारदा, सम्मेलन पत्रिका तथा नागरी प्रचारिणी पत्रिका आदि में इस विषय पर लेख लिखे और भिन्न मत प्रकट किए। बहुत निश्चय के साथ तो कुछ भी कहना कठिन है, किन्तु अनुमानतः इनका रचना-काल १७०० ई० के आसपास है।

'सतसई' मूलतः तो शृंगार की है, किन्तु इसमें सज्जन, बड़े, सूम, स्वभाव, संग, नारी तथा मूर्ख आदि कुछ विषयों पर नीति के दोहे भी हैं। ये संतों या गिरिधर जैसे नीति-कवियों की तुलना में अवश्य ही अधिक कलापूर्ण तथा प्रभावोत्पादक हैं। भाषा ब्रज है। नीतिकाव्योपयोगी उदाहरण तथा दृष्टांत आदि अलंकारों के समुचित प्रयोग के कारण शैली में आकर्षण है।

नीचे के दोहे 'सतसई' से लिये गये हैं—

होत अचेतन हूहिए, सकल प्रेम की बात।
अस्ताचल दिनमनि चलत, नलिनी दल मुरझात ॥ १ ॥

संगति दोष न पंडितनि, रह खलनि के संग।
बिषधर बिष ससि ईस में, अपने अपने रंग ॥ २ ॥

छोटी संगति के मिले, होति छोटिये बात।
ससि राख्यो सस-अंक में, सों कलंक ठहरात ॥ ३ ॥

जाकी जौन परी हिये, नहिं छूटै वह वाक।
जटित हेम के साज गज, तऊ चढ़ावत खाक ॥ ४ ॥

दूरि रहै नहिं कछु घटै, भये प्रेम सों पूर।
कहुँ मयूर कहुँ मेघ है, कहुँ सरोज कहुँ सूर ॥ ५ ॥

संग छुटत हू ना छुटै, सज्जन को अनुराग।
तोरि लीजिये कंज को, तऊ न टूटत ताग ॥ ६ ॥

जाकी जौन परी हिये, नहिं छूटै वह बानि।
सुधा सलिल सींचे नहीं, होति इदारुनि आनि ॥ ७ ॥

नीचेऊ बढ़ि जात हैं, सतसंगति के साथ।
पान संग मिलि पातऊ, जात बड़ेन के हाथ ॥ ८ ॥

छोट बढ़ाये बढ़त दुख, सुनि रावन की बात।
हरहू जुत कैलास को, किय उठाइ उतपात ॥ ९ ॥

जहाँ बीज उपजत तहाँ, गुन नहिं जानों जात।
ज्यौं ज्यौं दूरहि जात है, दूनो मोल बिकात ॥ १० ॥

नीचे नर ते ना करो, भूलिहु मन में संग।
परे गाँठ ज्यौं जातु है, छूटि कुसुम को रंग ॥ ११ ॥

सुर नर असुर फनीस सब, बंदत हैं सब काल।
तेउ कुसंगति के परे कहवावत हैं ग्वाल ॥ १२ ॥

संपति लखिकै कृपिन की, करो न मन में भूल।
सुनिबे ही को होत है, ज्यौं गूलरि को फूल ॥ १३ ॥

छुटै न संपति बिपति हू, ऊँचे जन को संग।
बसन फटेहू ना छुटै, ज्यों मजीठ को रंग ॥ १४ ॥

वह रसाल है औरई, जौन सुखद हिय माँह।
अरे पथिक भटकत कहा, लखि करील की छाँह ॥ १५ ॥

सर सर जद्यपि मंजु हैं, फूले कंज रसाल।
बिन मानस मानस मुदित, कहुँ नहिं करत मराल ॥ १६ ॥

ऐ रसाल जानत नहीं, तू कछु हिये विचार।
कोकिल बायस एक संग, बैठावत है डार ॥ १७ ॥

होत छोट छोटी करत, जदपि लिए गुन मोट।
बलि छलिबे को मन कियो, भये आनि हरि छोट ॥ १८ ॥

आदर करि राखो कितो, करि है औगुन संठ।
हर राखो विष कंठ में, कियो नील वै कंठ ॥ १९ ॥

केहू विधि नहिं छोड़िये, निज स्वभाव को सोध।
जलधर जल बरसो करै, कहा कूर गृह रोध ॥ २० ॥

जदपि नूत मृदु मंजरी, रही कंटकनि घेरि।
तऊ जात अति जतन ते, लेत मधुप मग हेरि ॥ २१ ॥

कहा मीन अकुलात तू, पर्‌यो रेसमी जाल।
तरफत कित बेफाइदा, नहिं छूटैगौ हाल ॥ २२ ॥

अर्थ-संकेत

७. इदारुनि=इन्द्रारुण, जिसका फल सुन्दर, किन्तु बहुत कड़वा होता है। १७. मजीठ=एक लता की जड़ और पत्तों से बनाया गया एक पक्का रंग। १९. संठ=दुष्ट। २०. कूर=दुष्ट।

गिरिधर कविराय

गिरिधर के समय तथा जीवन के सम्बन्ध में प्रामाणिक रूप से कहना कठिन है, क्योंकि इसके लिए अंत:साक्ष्य या बाह्य साक्ष्य का कोई भी आधार प्राप्त नहीं है। इनकी प्राप्त कुंडलियों में अवधी के रूप अधिक मिलने से अनुमान लगता है कि ये अवधी-प्रदेश के रहने वाले थे। नाम के साथ 'कविराय' (कविराज) होने से ये जाति के भाट जान पड़ते हैं। इलाहाबाद के आसपास के भाटों से पूछने पर भी, जो इनकी कुंडलियाँ कह-कह कर भीख माँगते हैं, इस बात की पुष्टि होती है। शिवसिंह सेंगर के अनुसार इनका जन्म सन् १७१३ में हुआ था। इस आधार पर इनका रचना-काल १७५० ई० के आसपास माना जा सकता है। इनके सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध जनश्रुति है कि एक बढ़ई से इनकी अनबन थी। बढ़ई ने एक ऐसी चारपाई बनाकर अपने राज्य के राजा को दी जिस पर ज्यों ही कोई व्यक्ति सोता था, उसके चारों कोनों पर लगे पंख अपने आप चलने लगते थे। राजा ने बढ़ई को पुरस्कृत किया और उसी प्रकार की कुछ चारपाइयाँ बनाने की आज्ञा दी। गिरिधर के घर के आँगन में एक बेर का पेड़ था। बढ़ई को अपनी शत्रुता निकालने का अच्छा अवसर मिला। उसने चारपाई बनाने के लिए इनके आँगन का बेर का पेड़ राजा से माँगा। गिरिधर के बहुत अनुनय-विनय करने पर भी राजा ने एक न सुनी और पेड़ काट लिया गया। गिरिधर ने अपनी पत्नी के साथ उसी समय उस राजा का राज्य छोड़ दिया और आजीवन दूसरे राज्यों में भ्रमण करते या अपने पेशे के अनुसार अपने छंद सुनाते और माँगते-खाते रहे। कहा जाता है कि इनकी जिन कुंडलियों में 'साईं' शब्द की छाप है, उनकी स्त्री द्वारा अपने पति [से स्वामी > साईं] को संबोधित करके लिखी गई हैं।

यदि किंवदंती सत्य है तो गिरिधर [और उनकी स्त्री] की कुल लगभग साढ़े चार सौ नीति की कुंडलियाँ मिलती हैं। उत्तरी भारत की हिंदी जनता में इनका बहुत प्रचार है। इस प्रचार का कारण है इनकी कुंडलियों में दैनिक लोक-जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी तथा अनुभवपूर्ण बातों का सरल और सीधी भाषा-शैली में वर्णित होना। इनके प्रमुख विषय बात, पिता, पुत्र, युग, यश, नारी, गृहिणी, चिंता बैर, विश्वास, बनिया, सत्य, संग, शत्रु, धन, गुण, व्यवहार, राजा, चुगली, रहस्य-धर्म, भाग्य, मन, दान, साधु, होनहार, लाठी, कमरी, भाँग, हुक्का, मूर्ख तथा ईश्वर आदि हैं। इनके कुछ दोहे, सोरठे और छप्पय भी मिलते हैं।

गिरिधर में नीतिकाव्य की परम्परागत बातें भी हैं, पर अधिक बातें ऐसी हैं जिनमें उनके अपने अनुभव का आधार है। इनके छंदों को काव्य या सूक्ति न कहकर पद्य कहना उचित है, क्योंकि उनमें कवित्व या सूक्तित्व का पूर्णत: अभाव है। प्राय: तथ्य की बातें सीधे उपदेशात्मक ढंग से पद्यबद्ध कर दी गई हैं। कहीं-कहीं उदाहरणों द्वारा अपने कथन की पुष्टि भी इन्होंने की है, पर बहुत कम। अपने कुछ छंदों में गिरिधर ने अन्योक्ति का भी सहारा लिया है, पर इस प्रकार के छन्द भी अधिक नहीं हैं।

अभी तक गिरिधर के कुंडलियों का कोई भी सुसंपादित संस्करण प्रकाश में नहीं आया है। इनके कुछ प्रकाशित संस्करणों में इनके लिखे नीति के कुछ दोहे तथा सोरठे भी मिलते हैं।

नीचे कुछ इनकी कुंडलियाँ दी जा रही हैं—

पुत्र प्राण ते अधिक है, चारिउ युग परमान ।
सो दसरथ नृप परिहरेउ, बचन न दीन्ह्यो जान ।
बचन न दीन्ह्यो जान, बड़े की बूझि बड़ाई ।
बात रहै सो काज और बरु सरबस जाई ।।
कह गिरिधर कविराय भये नृप दसरथ ऐसे ।
पुत्र प्रान परिहरे बचन परिहरे न ऐसे ।। १ ।।

साईं बेटा बाप के, बिगरे भयो अकाज ।
हिरनाकस्यप कंस को, गयउ दुहुन को राज ।।
गयउ दुहुन को राज, बाप, बेटा में बिगरी ।
दुस्मन दावागीर हँसै, महि मण्डल नगरी ।।
कह गिरिधर कविराय, युगन याही चलि आई ।
पिता पुत्र के बैर नफा कहु कोने साईं ।। २ ।।

बेटा बिगरो बाप सों, करि तिरियन सों नेहु ।
लटापटी होने लगी, मोहिं जुदा कर देहु ।।
मोहिं जुदा कर देहु घरीमाँ माया मेरी ।
लैहों घर अरु द्वार करौं मैं फजिहत तेरी ।।
कह गिरिधर कविराय सुनौ गदहा के लेटा ।
समय पर्‌यो है आय बाप से झगरत बेटा ।। ३ ।।

साईं ऐसे पुत्र से, बाँझ रहे बरु नारि ।
बिगरी बेटे बाप से, जाय रहै ससुरारि ।।
जाय रहै ससुरारि, नारि के नाम बिकाने ।
कुल के धर्म नसाय और परिवार नसाने ।।
कह गिरिधर कविराय मातु झंखै वहि ठाईं ।
असि पुत्रन नहिं होय बाँझ रहतिउँ बरु साईं ।। ४ ।।

नारी अतिबल होत हैं, अपनो कुलहिं बिनास ।
कौरव पाण्डव बंस को, कियो द्रोपदी नास ।।
कियो द्रोपदी नास, कैकयी दसरथ मारेउ ।
राम लखण से पुत्र तेउ बनवास सिधारेउ ।।
कह गिरिधर कविराय सदा नर रहै दुखारी ।
सो घर सत्यानास जहाँ है अतिबल नारी ।। ५ ।।

काँची रोटी कुचकुची, परती माछी बार ।
फूहर वही सराहिये, परसत टपकै लार ।।
परसत टपकै लार झपटि लरिका सौंचावै ।
चूतर पोंछै हाथ दोउ कर सिर खुजवावै ।।
कह गिरिधर कविराय फूहर के याही धैना ।
कजरौटी बरु होइ लुकाठन आँजै नैना ।। ६ ।।

चिन्ता ज्वाल सरीर की, दाह लगै न बुझाय ।
प्रकट धुवाँ नहिं देखिये, उर अंतर धुँधुवाय ।।

उर अंतर धुँधुवाय, जरै जस काँच की भट्टी ।
रक्त माँस जरि जाइ रहै पाँजरि की ठट्टी ॥
कह गिरिधर कविराय सुनो रे मेरे मिन्ता ।
वे नर कैसे जियैं जाहि ब्यापी है चिन्ता ॥ ७ ॥

साईं बैर न कीजिये, गुरु पंडित कवि यार ।
बेटा बनिता पँवरिया, यज्ञ करावनहार ॥
यज्ञ करावनहार, राज मन्त्री जो होई ।
बिप्र परोसी बैद्य आपको तपै रसोई ॥
कह गिरिधर कविराय युगन ते यह चलि आई ।
इन तेरह सों तरह दिये बनि आवै साईं ॥ ८ ॥

बैरी बँधुवा बानियाँ, ज्वारी चोर लबार ।
बटमारी रोगी ऋणी, नगर नारि को यार ॥
नगर नारि को यार भूलि परतीत न कीजै ।
सौ सोगन्दैं खाय चित्त में एक न दीजै ॥
कह गिरिधर कविराय घरै आवै अनगैरी ।
मुँह से कहै बनाय चित्त में पूरो बैरी ॥ ९ ॥

बनियाँ अपने बाप को, ठगत न लावै बार ।
निसिबासर जननी ठगै, जहाँ लेत अवतार ॥
जहाँ लेत अवतार मास दस उदर में राखै ।
गुरु से करै विवाद आप पंडित ह्वै भाखै ॥
कह गिरिधर कविराय ब्यचे हरदी औ' धनियाँ ।
मित्र जानि ठग लेहि जहाँ लग भक्ता बनियाँ ॥ १० ॥

झूठा मीठे वचन कहि, ऋण उधार ले जाय ।
लेत परम सुख उपजै, लैके दियो न जाय ॥
लैके दियो न जाय ऊँच अरु नीच बतावै ।
ऋण उधार के रीति माँगते मारन धावै ॥
कह गिरिधर कविराय जानि रह मन में रूठा ।
बहुत दिना ह्वै जाय कहै तेरो कागज झूठा ॥ ११ ॥

जाकी धन धरती हरी, ताहि न लीजै संग ।
जो संग राखे ही बनै, तो करि डारु अपंग ॥
तो करि डारु अपंग, भूलि परतीत न कीजै ।
सौ सौगन्दैं खाय चित्त में एक न दीजै ॥
कह गिरिधर कविराय खटक जैहै नहिं ताकी ।
अरि समान परिहरिय, हरी धन धरती जाकी ॥ १२ ॥

दौलत पाय न कीजिये, सपने में अभिमान ।
चंचल जल दिन चारि को, ठाउँ न रहत निदान ॥
ठाउँ न रहत निदान जियत, जग में जस लीजै ।
मीठे बचन सुनाय बिनय, सबही की कीजै ॥
कह गिरिधर कविराय, अरे यह सब घट तौलत ।
पाहुन निसिदिन चारि रहत सबही के दौलत ॥ १३ ॥

गुन के गाहक सहस नर, बिन गुन लहै न कोय ।
जैसे कागा कोकिला, सबद सुनै सब कोय ।।
सबद सुनै सब कोय, कोकिला सबै सुहावन ।
दोऊ को यह रंग काग सब भये अपावन ।।
कह गिरिधर कविराय, सुनो हो ठाकुर मन के ।
बिनु गुन लहैं न कोय सहस नर गाहक गुन के ।। १४ ।।

मित्र बिछोहा अति कठिन, मति दीजै करतार ।
वाके गुन जब चित चढ़ै, बर्षत नयन अपार ।।
बर्षत नयन अपार, मेघ सावन झरि लाई ।
अब बिछुरे कब मिलो कहो कैसी बनिआई ।।
कह गिरिधर कविराय, सुनो हो बिनती एहा ।
हे करतार दयालु देहु जनि मित्र बिछोहा ।। १५ ।।

साईं सब संसार में, मतलब का ब्यवहार ।
जब लग पैसा गाँठ में, तब लग ताको यार ।।
तब लग ताको यार, यार सँग ही सँग डोलै ।
पैसा रहा न पास, यार मुख से नहिं बोलै ।।
कह गिरिधर कविराय, जगत यहि लेखा भाई ।
करैं बेगरजी प्रीति यार बिरला कोई साईं ।। १६ ।।

हीरा अपनी खानि को, बार-बार पछताय ।
गुण कीमत जाने नहीं, तहाँ बिकानो आय ।।
तहाँ बिकानो आय, छेद करि कटि में बाँध्यो ।
बिन हरदी बिन लोन, मांस ज्यों फूहर राँध्यो ।।
कह गिरिधर कविराय, कहाँ लगि धारिये धीरा ।
गुण कीमत घटि गई, यहै कहि रोयो हीरा ।। १७ ।।

रहिये लटपट काटि दिन, बरु घामे मा सोय ।
छाँह न वाकी बैठिये, जो तरु पतरो होय ।।
जो तरु पतरो होय, एक दिन धोखा दैहैं ।
जा दिन बहै बयारि, टूटि तब जर से जैहैं ।।
कह गिरिधर कविराय, छाँह मोटे की गहिये ।
पत्ता सब झरि जाय, तऊ छाहें माँ रहिये ।। १८ ।।

चुगुल न चूकै कबहुँ को, अरु चूकै सब कोइ ।
बरकन्दाज कमानियाँ, चूक उनहुँ ते होइ ।।
चूक उनहुँ ते होय, जे बाँधै बरछी गुल्ला ।
चूक उनहुँ ते होय, पढ़ै पंडित और मुल्ला ।।
कह गिरिधर कविराय, कलाहू ते नट चूकै ।।
युगुल चौकसीदार, ससुर कबहूँ नहिं चूकै । १९ ।।

मूसा कहै बिलार सों, सुन रे झूठ झूठेल ।
हम निकसत हैं सैर को, तुम बैठत हो गैल ।।
तुम बैठत हो गैल, कचरि धक्कन सों जैहौ ।
तुम हौ निपट गरीब कहा घर बैठे खैहौ ।।

कह गिरिधर कविराय, बात सुनिये हो हूसा।
यहै दिनन को फेर बिलारिहि सिखवै मूसा ॥ २० ॥

नयनन की नोकैं बुरी, निकस जात जस तीर।
हेरे घाव न पाइये, बेधा सकल सरीर ॥
बेधा सकल सरीर, बैद का कर बैदाई।
करिहौ कोटि उपाय, घाउ नहिं देत दिखाई ॥
कह गिरिधर कविराय, विरहनी देत है चौकें।
समझि बूझि कै चलो, बुरी नयनन को नोकैं ॥ २१ ॥

साईं घोड़े आछतहि, गदहन आयो राज।
कौआ लीजे हाथ में, दूरि कीजिये बाज ॥
दूरि कीजिये बाज, राज पुनि ऐसो आयौ।
सिंह कीजिये कैद स्यार गजराज चढ़ायौ ॥
कह गिरिधर कविराय, जहाँ यह बूझि बधाई।
तहाँ न कीजै भोर साँझ उठि चलिये साईं ॥ २२ ॥

साईं अवसर के पड़े, को न सहै दुख द्वन्द्व।
जाय बिकाने डोम घर, वै राजा हरिचन्द ॥
वै राजा हरिचन्द करैं मरघट रखवारी।
फिरे तपस्वी वेष घटै अर्जुन बलधारी ॥
कह गिरिधर कविराय तपै वह भीम रसोई।
को न करै घटि काम परे अवसर के साईं ॥ २३ ॥

करै कियारि कपूर की, मृगमद बरहा बन्ध।
सींचे केवरा गुलाब सों, लहसुन तजै न गन्ध ॥
लहसुन तजै न गन्ध, रहे अगर संयूता।
कबहुँ अहै गजराज, कबहुँ सूकर के पूता ॥
कह गिरिधर कविराय, वेद भाषे यह सारी।
बीज बयो सो होय, कहा करैं उत्तम क्यारी ॥ २४ ॥

बड़े बड़ेन की ऐसे ही, बड़ेन बड़ाई होय।
हनूमान जब गिरि धरेउ, गिरिधर कहत न कोय ॥
गिरिधर कहत न ताको, किनकी हौ हरि धरऊ।
गिरिधर गिरिधर होय, कहत सबको दुख हरऊ ॥
कह गिरिधर कविराज, सुनो हो ज्ञानी भाई।
थोरे में यस होय, यसी पूरुष को साँई ॥ २५ ॥

कमरो थोरे दाम की, आवै बहुतै काम।
खासा मलमल बाफता, उनकर राखै मान ॥
उनकर राखै मान बुन्द जहँ आड़ै आवै।
बकुचा बाँधे मोट, रात को झारि बिछावै ॥
कह गिरिधर कविराय, मिलत है थोरे दमरी।
सब दिन राखै साथ बड़ी मरजादा कमरी ॥ २६ ॥

बिना बिचारे जो करै, सो पाछे पछिताय।
काम बिगारै आपनो, जग में होत हँसाय ॥

जग में होत हँसाय, चित्त में चैन न पावै।
खान पान सन्मान राग-रंग मनहिं न भावै ॥
कह गिरिधर कविराय दुःख कछु टरत न टारे।
खटकत है जिय माहिं कियो जो बिना बिचारे ॥ २७ ॥

बीती ताहि बिसार दे, आगे की सुधि लेइ।
जो बनि आवै सहज में, ताही में चित देइ ॥
ताही में चित देइ बात जोई बनि आवै।
दुर्जन हँसै न कोइ चित्त में खता न पावै ॥
कह गिरिधर कविराय यहै करु मन परतीती।
आगे को सुख समुझि होइ बीती सो बीती ॥ २८ ॥

साईं अपने चित्त की, भूलि न कहिये कोइ।
तब लग मन में राखिये, जब लग कारज होइ ॥
जब लग कारज होइ भूल कबहूँ नहिं कहिये।
दुरजन हँसै न कोय आप सियरे ह्वै रहिये ॥
कह गिरिधर कविराय बात चतुरन के ताईं।
करतूती कहि देत आप कहिये नहिं साईं ॥ २९ ॥

साईं अपने भ्रात को, कबहुँ न दीजै त्रास।
पलक दूर नहिं कीजिये, सदा राखिये पास ॥
सदा राखिये पास, त्रास कबहूँ नहिं दीजै।
त्रास दियो लंकेस ताहि की गति सुनि लीजै ॥
कह गिरिधर कविराय राम सों मिलिगो जाई।
पाय विभीषन राज लंकपति बाज्यो साईं ॥ ३० ॥

पानी बाढ़ो नाव में, घर में बाढ़ो दाम।
दोनों हाथ उलीचिये, यही सयानो काम ॥
यही सयानो काम, राम को सुमिरन कीजै।
पर स्वारथ के काज, सीस आगे धरि दीजै ॥
कह गिरिधर कविराय, बड़ेन की याही बानी।
चलिये चाल सुचाल राखिये अपनो पानी ॥ ३१ ॥

राजा के दरबार में, जैये समया पाय।
साईं तहाँ न बैठिये, जहँ कोउ देय उठाय ॥
जहँ कोउ देय उठाय, बोल अनबोले रहिये।
हँसिये ना हहराय, बात पूछे ते कहिये ॥
कह गिरिधर कविराय, समय सों कीजै काजा।
अति आतुर नहिं होय, बहुरि अनखैहैं राजा ॥ ३२ ॥

कृतघन कबहुँ न मानहीं, कोटि करै जो कोय।
सर्वस आगे राखिये, तऊ न अपनो होय ॥
तऊ न अपनो होय, भले की भली न मानै।
काम काढ़ि चुप रहै, फेरि तिहि नहिं पहचानै ॥
कह गिरिधर कविराय रहत नित ही निर्भय मन।
मित्र सत्रु सब एक, दाम के लालच कृतघन ॥ ३३ ॥

खल सज्जन दो जगत में, तिनकी है यह रीत।
ज्यों सूची को अग्रभग, पृष्ठ भाग है मीत ॥
पृष्ठ भाग है मीत, एक तो छिद्दर करिहै।
दुसरे तिसे अछादत, ततछिन गुन करि भरिहै ॥
कह गिरिधर कविराय, आत्मा एकहि अमल।
निज माया करि बन रह्यो सोई सज्जन खल ॥ ३४ ॥

खायो जाय जो खाय रे, दिया जाय सो देह।
इन दोनों से जा बचै, सो तुम जानौ खेह ॥
सो तुम जानौ खेह गले पुन काम न आवै।
सर्व सोक को बीज पुनः पुनि तुझे रुआवै ॥
कह गिरिधर कविराय चरण त्रै धन के गायो।
दान भोग बिन नास होत जो दियो न खायो ॥ ३५ ॥

बेटो बेटी भांजा, भाइ ससुर अरु सार।
पिता पितामह आदिले, सब मतलब के यार ॥
सब मतलब के यार नहीं इनमें कोइ तेरो।
भयो तुझे परमाद जो इनको बन रह्यो चेरो ॥
कह गिरिधर कविराय, सबन से झगरा मेटो।
ना तू बाप किसी को, तेरो कोइ ना बेटो ॥ ३६ ॥

सोना लादन पिय गए, सूना करि गए देस।
सोना मिले न पिय मिले, रूपा ह्वै गए केस ॥
रूपा ह्वै गए केस, रोय रंग रूप गँवावा।
सेजन को बिसराम, पिया बिनु कबहुँ न पावा ॥
कह गिरिधर कविराय, लोन बिन सबै अलोना।
बहुरि पिया घर आव, कहा करिहौं लै सोना ॥ ३७ ॥

लाठी में गुन बहुत हैं सदा राखिये संग।
नद नारो गहरो जहाँ तहाँ बचावै अंग ॥
तहाँ बचावै अंग, झपटि कुत्ता को मारै।
दुस्मन दावागीर होय तिनको हूँ झारै ॥
कह गिरिधर कविराय, सुनो हो धूर के बाठी।
सब हथियारन छाँड़ि, हाथ मँह लीजै लाठी ॥ ३८ ॥

हुक्का से हुरमत गई, नियम धर्म गयो छूट।
दाम खर्च लियो तमाकू, गई हिये की फूट ॥
गई हिये की फूट, आग को घर-घर डोले।
जिस घर आग को जाय, सोई कुररातो बोले ॥
कह गिरिधर कविराय, लगै जब यम को रुक्का।
प्राण जायँगे छूट सहाय होवै नहिं हुक्का ॥ ३९ ॥

अर्थ-संकेत

१. बात रहै सो काज=कही बात की रक्षा करना ही सबसे बड़ा कार्य या कर्तव्य है। ३. लटापटी=झगड़ा। ४. झंखै=पश्चात्ताप करती है, दुःखी होती है। ६. सौंचावे=आबदस्त दे। धैना=आदत। ७. पाँजरि की ठट्टी=हड्डी-हड्डी, दुबला। ९. अनगैरी=अपना, अपने जैसा। १०. ब्यचे=बेचे। भक्ता=भक्त। १६. लेखा=लिखनी, चाल, ढंग। १७. राँध्यो=पकाया। १९. बरकंदाज=बंदूक या लाठी चलाने वाला। गुल्ला=गुलेल की गोली। चौकसीदार=चौकन्ना। २४. बरहा बंध=नाली आदि। संयूता=संयुक्त। २०. मूसा=चूहा। २. आछतहि=रहते। २६. बाफता=एक अच्छा कपड़ा। आड़े आवै=काम आवै। ३०=बाज्यो=जूझ गए। ३२. हहराय=जोर से। अनखैहैं=क्रोधित होंगे। ३४ छिद्दर=छेद। अछादत=सीता है। ३५. खेह=मिट्टी। त्रै तीन। ३७. ले=तक। ३८. धूर के बाठी=पैदल चलने वालो।

बुधजन

'बुधजन' नाम से प्रसिद्ध जैन कबि का पूरा नाम एक मत से विरधीचंद[1] और दूसरे मत से भद्रोचंद [2] था। ये वज गोत्र के तथा खंडेलवाल जाति के थे। इनके पिता का नाम निहालचंद था। 'बुधजन' का जन्म जयपुर में हुआ था। ये कुल छह भाई थे। इनके एक पुत्र था जिसका नाम अमरचंद्र था। बुधजन की जैन धर्म में अटूट आस्था थी। ये बड़े उच्च कोटि के विद्वान् तथा कवि थे। जोविकार्थ ये अमरचन्द्र नामक दीवान के यहाँ मुख्य मुनीम का कार्य करते थे।

बुधजन के बनाये चार ग्रंथ प्रसिद्ध हैं—'तत्त्वार्थ बोध', 'बुधजन सतसई', 'पंचा-स्तिकाय' और 'बुधजन विलास'। इनके रचना-काल क्रम से संवत् १८७१, ७९, '८१, तथा '९२ हैं। इनके आधार पर इनका रचना-काल १९वीं सदी (ईसा) का प्रथम और द्वितीय चरण माना जा सकता है।

बुधजन की सतसई हिन्दी के नीति-काव्य में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। तुलना करने पर पता चलता है कि इनके कुछ दोहे अपने समानार्थी कबीर, तुलसी, रहोम तथा वृंद आदि के दोहों से भी सुन्दर बन पड़े हैं।

अपनी सतसई के संबंध में कवि कहता है—

भूख सहौं दारिद सहौं सहौं लोक-अपकार।
निंद काम तुम मति करौ, यहै ग्रंथ को सार॥

'बुधजन सतसई' में देवानुरागशतक, सुभाषित नीति, उपदेशाधिकार और विराग भावना, ये चार खंड हैं जिनमें नीति की दृष्टि से दूसरा खंड अधिक महत्त्वपूर्ण है। यों अन्य खंड भी नीतिशून्य नहीं हैं। इनमें प्रमुख नीतियाँ धर्म, आचार और व्यवहार-विषयक हैं। प्रमुख विषय विद्या, संपत्ति, मित्रता, जुआ, चोरी, हिंसा, क्षमा, दया, गुरु, शिष्य, संग तथा जीव आदि हैं।

सतसई की भाषा ब्रज है यद्यपि राजस्थानी का भी यत्र-तत्र प्रभाव है। सतसई के बहुत से दोहे संस्कृत के नीति की दृष्टि से प्रसिद्ध छन्दों से पर्याप्त मात्रा में प्रभावित हैं।

नीचे इनके कुछ छन्द दिये जा रहे हैं—

भला किये करिहै बुरा, दुर्जन सहज सुभाय।
पय पायें विष देत है, फणी महा दुखदाय॥ १॥

सहैं निरादर दुरबचन, मार दंड अपमान।
चोर चुगल परदाररत, लोभि लबार अजान॥ २॥

अगनि चोर भूपति बिपति, डरत रहै धनवान।
निर्धन नींद निसंक ले, मानै काकी हान॥ ३॥

---

१. हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, कामताप्रसाद जैन, १९४७, पृ० १९७।

२. बुधजन सतसई, सं० नाथूराम प्रेमी, बंबई, ३रा संस्करण में कवि-परिचय।

एक चरन हू नित पढ़ै, तो काटै अज्ञान।
पनिहारी की लेज सौं सहज कटै पाषान ॥ ४ ॥

पतिव्रता सतपुरुष को गाढ़ा धीर सुभाव।
भूख सहै दारिद सहै, करै न हीन उपाव ॥ ५ ॥

बैर करौ वा हित करौ, होत सबल तैं हारि।
मीत भयै गौरव घटै, शत्रु भयैं दे मारि ॥ ६ ॥

जतन थकी नरकौं मिलै, बिना जतन लैं आन।
बासन भरि नर पीत हैं, पशु पीवैं सब थान ॥ ७ ॥

झूठी मीठी तनक सी, अधिकी मानैं कौन।
अनसरतै बोलौ इसी, ज्यौं आटे मैं नौन ॥ ८ ॥

औसर लखिये बोलिये, जथा जोगता बैन।
सावन भादौं बरसतैं, सबही पावैं चैन ॥ ९ ॥

बोलि उठै औसर बिना ताका रहै न मान।
जैसैं कातिक बरसतैं, निंदै सकल जहान ॥ १० ॥

उद्यम साहस धीरता, पराक्रमी मतिमान।
एते गुन जा पुरुष मैं, सो निरभै बलवान ॥ ११ ॥

रोगी भोगी आलसी, बहमी हठी अज्ञान।
ये गुन दारिदवान के, सदा रहत भयवान ॥ १२ ॥

नदी तीर को रूखरा, करि बिनु अंकुश नार।
राजा मन्त्री तैं रहित, बिगरत लगै न बार ॥ १३ ॥

अति खाने तैं रोग ह्वै, अति बोले ज्या मान।
अति सोये धन हानि ह्वै, अति मति करौ सयान ॥१४॥

कूर कुरूपा कलहिनी, करकस बैन कठोर।
ऐसी भूतनि भोगि बो, बसिबो नरकनि घोर ॥ १५ ॥

सुजन सुखी दुरजन डरैं, करैं न्याय धन संच।
प्रजा पलैं पख ना करैं, श्रेष्ठ नृपति गुन पंच ॥ १६ ॥

हंकारी व्यसनी हठी, आरसवान अज्ञान।
भृत्य न ऐसा राखिये, करै मनोरथ हान ॥ १७ ॥

नृप चालै ताही चलन, प्रजा चलै वा चाल।
जापथ जा गजरात तहँ, जात जूथ गजवाल ॥ १८ ॥

सीख सरल कौं दीजियै, विकट मिलैं दुख होय।
बये सीख कपि कौं दई, दिया घोंसला खोय ॥ १९ ॥

अति लोलुप आसक्त कैं, बिपदा नाहीं दूर।
मीन मरे कंटक फँसै, दौरि मांस लखि कूर ॥ २० ॥

भला बुरा लखिये नहीं, आये अपने द्वार।
मधुर बोल जस लीजिये, नातर अजस तयार ॥ २१ ॥

अधिक सरलता सुखद नहिं, तेखो विपिननिहार ।
सीधे बिरवा कटि गए, बाँके खरे हजार ।। २२ ।।

नहीं मान कुल रूप कौ, जगत मान धनवान ।
लखि चँडाल के बिपुल धन,लोक करैं सनमान ।। २३ ।।

संपति के सब ही हितू, बिपदा में सब दूर ।
सूखौ सर पंखी तजैं, सेवैं जलतें पूर ।। २४ ।।

तजैं नारि सुत बंधु जन दारिद आयैं साथि ।
फिरि आमद लखि आयकै, मिलिहैं बांथावांथि ।। २५ ।।

नृप सेवा तैं नष्ट दुज, नारि नष्ट बिन सील ।
गनिका नष्ट सँतोष तैं, भूप नष्ट चित ढील ।। २६ ।।

निसि में दीपक चंद्रमा, दिन में दीपक सूर ।
सर्व लोक दीपक धरम, कुल दीपक सुत सूर ।। २७ ।।

काल करा दे मित्रता, काल करा दे रार ।
कालखेप पंडित करैं, उलझैं निपट गँवार ।। २८ ।।

बलधन मैं सिंह ना लसैं, ना कागन मैं हंस ।
पंडित लसै न मूढ़ मैं, हय खर मैं न प्रशंस ।। २९ ।।

एक मात के सुत भये, एक मते नहिं कोय ।
जैसैं काँटे बेर के बाँके सीधे होय ।। ३० ।।
जाका दुरजन क्या करैं, छमा हाथ तरवार ।
बिना तिना की भूमि पर आगि बुझै लगि बार ।। ३१ ।।

बोधत शास्त्र सुबुधि सहित, कुबुधी बोध लहै न ।
दीप प्रकास कहा करै, जाके अंधे नैन ।। ३२ ।।

नृपति निपुन अन्याय मैं, लोभ निपुन परधान ।
चाकर चोरी मैं निपुन, क्यों न प्रजा की हान ।। ३३ ।।

दूध रहित घंटा सहित, गाय मोल क्या पाय ।
त्यों मूरख आटोप करि, नाहि सुघर ह्वै जाय ।। ३४ ।।
तेता आरँभ ठानिये, जेता तन में जोर ।
तेता पाँव पसारिये, जेती लाँबी सोर ।। ३५ ।।
दुष्ट मिलत ही साधुजन नहीं दुष्ट ह्वै जाय ।
चंदन तरु को सर्प लगि, विष नहिं देत बनाय ।। ३६ ।।
मनुख जनम ले क्या किया, धर्म न अर्थ न काम ।
सो कुच अज के कंठ मैं, उपजे गए निकाम ।। ३७ ।।

तृष्णा मिटै सँतोष तैं, सेयें अति बढ़ि जाय ।
तृन डारैं आग ना बुझैं, तृनारहित बुझ जाय ।। ३८ ।।

प्रथम धरम पीछै अरथ, बहुरि काम कौं सेय ।
अंत मोक्ष साधै सुधी, सो अविचल सुख लेय ।। ३९ ।।

पर औगुन मुख ना कहैं, पोखैं पर के प्रान ।
बिपता में धीरज भजैं, ये लच्छन विद्वान ।। ४० ।।

धूप छाँह ज्यों फिरत है, संपति बिपति सदीव ।
हरष शोक करि क्यों फँसत, मूढ़ अयानी जीव ॥ ४१ ॥

मन तुरंग चंचल मिल्या, बाग हाथ में राखि ।
जा छन ही गाफिल रहौ, ता छिन डारै नाखि ॥ ४२ ॥

सींग पूँछ बिनु बैल हैं, मानुष बिना बिबेक ।
भख्य अभख समझैं नहीं, भगिनि भामिनी एक ॥ ४३ ॥

मुख तैं बोले मिष्ट जो, उर में राखै घात ।
मीत नहीं वह दुष्ट है, तुरत त्यागिये भ्रात ॥ ४४ ॥

(बुधजन सतसई से)

अर्थ-संकेत

२. परदाररत = परस्त्रीरत । ४. लेज = कुएँ से पानी निकालने की रस्सी । ७. थकी = से । ८. अनसरते = काम नहीं चल सकता हो तो । १२. बहमी = संदेह करने वाला । १३. रूखरा = पेड़ । १४. ज्या = जाता है । १६. पख = पक्ष, तरफदारी । १७. हंकारी = अहंकारो । आरसवान = आलसी । १८. वा = वह । १९. बये = बया पक्षी । २१. नातर = नहीं तो । २५. वांथावांथि = आलिंगन । २८. कालखेप = कालक्षेप । २९. बलधन = बैलों । ३१. तिना = तृण । ३४ आरोप = वस्त्रादिका आडम्बर । ३७. अज = बकरी के गलथन-जैसा व्यर्थ । ४०. पोषैं = पोषण करते हैं । ४१. सदीव = सदैव । ४२. नाखि = नष्ट कर ।

दीनदयाल गिरि

दीनदयाल गिरि (१८०२-१८५८ ई०) काशी के थे। ये वहीं एक मठ में रहते थे। संस्कृत में भी इनकी अच्छी गति थी। अन्योक्ति के क्षेत्र में हिन्दी में इनका स्थान सर्वोपरि है। यों तो इनकी काफी अन्योक्तियाँ संस्कृत की अन्योक्तियों पर आधारित या उनसे प्रभावित हैं, किन्तु भाव और भाषा की दृष्टि से वे बहुत ही उच्च कोटि की हैं। इनके कुल छह ग्रंथ मिलते हैं : 'अनुराग बाग', 'दृष्टांत तरंगिणी', 'अन्योक्ति माला', 'वैराग्य निर्देश', 'अन्योक्ति कल्पद्रुम' तथा 'विश्वनाथ नवरत्न'। इनमें 'दृष्टांत तरंगिणी', 'अन्योक्ति माला' तथा 'अन्योक्ति कल्पद्रुम' नीति-विषयक हैं। यहाँ दृष्टांत तरंगिणी, अन्योक्ति माला तथा अन्योक्ति कल्पद्रुम से कुछ नीति-विषयक छंद दिए जा रहे हैं—

वसन्त

हितकारी ऋतुराज तुम साजत जग आराम।
सुमन सहित आसा भरा दलहिं करौ अभिराम॥
दलहिं करौ अभिराम कामप्रद द्विज गुन गावैं।
लहि सुबास सुखधाम बात बर ताप नसावैं॥
बरनै दीनदयाल हिये माधव धुनि प्यारी।
श्रवन सुखद सुखबैन विमल बिलसैं हितकारी॥ १॥

ग्रीष्म

सुखिया जे जे तब रहे लहि ऋतुराज उमंग।
ते सब अब दुखिया भये हे ग्रीषम तुव संग॥
हे ग्रीषम तुव संग साखि सर सूखि गए हैं।
बिकल कमल द्विजराज सकल छबिहीन भए हैं॥
बरनै दीनदयाल रह्यो जगप्रान जु मुखिया।
सोऊ तपि दुखदानि भयो जो हो अति सुखिया॥ २॥

भूतल

भूतल तो महिमा बड़ी, फैल रही संसार।
छमासील को कहि सकै, सहत सकल के भार॥
सहत सकल के भार, धराधर धीर धरे हो।
पारावार-अपार-धार, सिर क्रीट करे हो॥
बरनै दीनदयाल जगो, जग है जस ऊजल।
सब की छमत गुनाह, नाह तुम सब के भूतल॥ ३॥

निशाकर

दानी अम्हत के सदा, देव करैं गुनगान।
सुनो चंद बंदौं तुमैं, मोद-निधान जहान॥
मोद-निधान जहान, संभु सिर ऊपर धारैं।
देखि सिन्धु हरखाय, निकाय चकोर निहारैं॥

बरनै दीनदयाल सबै को तुम सुखखानी।
एक चोर बरजोर घोर निंदैं दुखदानी ॥ ४ ॥

पूरे जदपि पियूख तें हरसेखर आसीन।
तदपि पराये बस परे रह्यो सुधाकर छीन ॥
रह्यो सुधाकर छीन कहा है जो जग बंदत।
केवल जगत बखान पाय न सुजान अनंदत ॥
बरनै दीनदयाल चंद हौ हीन अधूरे।
जौ लगि नहिं स्वाधीन कहा अमृत तें पूरे ॥ ५ ॥

बादल

आयो चातक बूँद लगि सब सर सरित बिसारि।
चहियत जीवनदानि ! तेहि निरदै पाहन मारि ॥
निरदै पाहन मारि पंख बिन ताहि न कीजै।
याहि रावरी आस, प्यास हरि जग जस लीजै ॥
बरनै दीनदयाल दुसह दुख आतप तायो।
तृषावन्त हित-पूर दूर ते चातक आयो ॥ ६ ॥

जिन संसिन को सींचि तुम करी सु-हरी बहार।
तिनको दई न चाहिये हे घन ! पाहन मार ॥
हे घन ! पाहन मार भली यह कही न बेदन।
गरलतु को तरु लाय न चहिये निजकर छेदन ॥
बरनै दीनदयाल जगत बसिबो द्वै दिन को।
लेहु कलंक न कंद पालि दलि जिन संसिन को ॥ ७ ॥

भूले अब घन ! तुम कितै प्रथमै याको पालि।
लखत रावरी राह को सूखि गयो यह सालि ॥
सूखि गयो यह सालि अहो अजहूँ नहिं आए।
दै दै नाहक नीर सिंधु में सुदिन गँवाए ॥
बरनै दीनदयाल कहा गरजत हौ फूले।
समै न आये काम, काम कौने, भ्रमि भूले ॥ ८ ॥

चपला संगति ते भयो घन ! तव चपल सुभाव।
ता छिन तें बरखन लगे अमृत को तजि ग्राव ॥
अमृत को तजि ग्राव हनत को तुमैं निवारै।
अहो कुसंग प्रचंड काहि जगमें न बिगारै ॥
बरनै दीनदयाल रहैगि न, है यह सचला।
ता बस अजस न लेहु, देहु चित, है चल चपला ॥ ९ ॥

बरखै कहा पयोद इत मानि मोद मन माहिं।
यह तो ऊसर भूमि है अंकुर जमिहैं नाहिं ॥
अंकुर जमिहैं नाहिं बरख सत जो जल दै है।
गरजै तरजै कहा बृथा तेरो श्रम जैहै ॥
बरनै दीनदयाल न ठौर कुठौरहिं परखै।
नाहक गाहक बिना बलाहक ह्याँ तू बरखै ॥ १० ॥

नदी

बहु गुन तोमें हैं धुनी ! अति पुनीत तो नीर ।
राखति यह ऐगुन बड़ो बक मराल इक तीर ।।
बक मराल इक तीर नीच-ऊँचौ न पिछानति ।
सेत सेत सब एक, नहीं ऐगुन-गुन जानति ।।
बरनै दीनदयाल चाल यह भली न है सुन ।
जग मैं प्रगट, नसाहि एक ऐगुन तें बहुगुन ।। ११ ।।

तालाब

सर तोमैं सरसे बसे भेकन हित बक बंस ।
सारस हैं सारस न हैं तातें रसैं न हंस ।।
ताते रसैं न हंस तोहि तजि दूजि गये हैं ।
तोको मानि मलीन नहीं मनलीन भए हैं ।।
बरनै दीनदयाल बकन हटि तू बरजो मैं ।
सरसैं समुझि न हंस कुसंगति को सर तो मैं ।। १२ ।।

कमल

हारो है हे कंज ! फँसि चंचरीक तुव माहिं ।
याको नीके राखिये दुखित कीजिये नाहिं ।।
दुखित कीजिये नाहिं दीजिये रस धरि आगे ।
एक रावरे हेत सबै इन सौरभ त्यागे ।।
बरनै दीनदयाल प्रेम को पैड़ो न्यारो ।
बारिज बँध्यो मलिंद दारु को बेधनिहारो ।। १३ ।।

दीने ही चोरत अहो ! इन सब चोर न और ।
इन समीर तें कंज ! तुम सजग रहो या ठौर ।।
सजग रहो या ठौर भौंर रखिये रखवारे ।
नातो परिमल लूटि लेहिंगे सबै तिहारे ।।
बरनै दीनदयाल रहो हो मिल अधीने ।
भली करत हो रैन कपाट रहत हो दीने ।। १४ ।।

भ्रमर

एकै नाम न भूलि अलि ! ई तो कथन मँदार ।
वह औरै मन्दार है करनी जासु उदार ।।
करनी जासु उदार देत अभिमत फल वे तो ।
याने ठगे सुकादि कला करि हारे केतो ।।
बरनै दीनदयाल सुखद गुन उन्हें अनेकै ।
यामैं फोकट नाम अडंबर सुनियत एकै ।। १५ ।।

देखत न ग्रीषम विषम इहि गुलाब की ओरि ।
सुनो अली ! यह नहिं भली ह्वै हैं कली बहोरि ।।
ह्वै हैं कली बहोरि तबै तुम पायन परिहौ ।
चायन को करि काह बकायन मैं सिर मरिहौ ।।

बरनै दीनदयाल रहो हो पीतम पेखत।
यहै मीत की रीति एक से सुख दुख देखत ।। १६ ।।

भौंरा अंत बसंत के है गुलाब इहि रागि।
फिरि मिलाप अति कठिन है या बन लगे दवागि ।।
या बन लगे दवागि नहीं यह फूल लहैगो।
ठौरहि ठौर भ्रमात बड़ो दुख तात सहैगो ।।
बरनै दीनदयाल किते दिन फिरिहै दौरा।
पछितैहै कर दिए गए रितु पीछे भौंरा ।। १७ ।।

गुलाब

नाहीं भूलि गुलाब ! तू गुनि मधुकर गुंजार।
यह बहार दिन चार की बहुरि कटीली डार ।।
बहुरि कटीली डार होंहिगो ग्रीखम आए।
लुवैं चलैंगी संग अंग सब जैहैं ताए ।।
बरनै दीनदयाल फूल जौलौं तो पाहीं।
रहे घेरि चहुँ फेरि, फेरि अलि ऐहैं नाहीं ।। १८ ।।

शुक

हे सुक प्रीति न कीजिये इन कागन के संग।
कहुँ भुलाय लै जायकै करिहैं चोंचहि भंग ।।
करिहैं चोंचहि भंग नारियल फल के माहीं।
निरफल जैहैं सकल कला पैहै कछु नाहीं ।।
बरनै दीनदयाल जाति इनको दुख-हेतुक।
न तु पछतैहै अंत खोय अपनो गुन हे सुक ।। १९ ।।

मातंग

भाजत हैं जिहि त्रास ते दिग्गज दीरघदंत।
नाहर नहिं नेरे फिरै देखि बड़ो बलवंत ।।
देखि बड़ो बलवंत फिरैं गिरि-कंदर दर तें।
नदी कूल कुंज मूल परसि बिनसैं रद कर तें ।।
बरनै दीनदयाल रह्यो जो सब पै गाजत।
अहो सोई गजरात आज कलभन तें भाजत ।। २० ।।
भूपन तें आदर लयो दल को भयो सिंगार।
अजहूँ तजी न बानि गज सिर पर डारत छार ।।
सिर पर डारत छार झूल डारे मखमल की।
चल्यो हठीली चाल भयो जग सीमा बल की ।।
बरनै दीनदयाल होत नहिं कछु रूपन तें।
छुटै न बंस सुभाय पाय आदर भूपन तें ।। २१ ।।

ब्राह्मण

हे पांडे यहि बात को को समझै या ठाँव।
इतै न कोऊ है सुधी यह ग्वारन को गाँव ।।
यह ग्वारन को गाँव नाँव नहिं सूधे बोलैं।
बसैं पसुन के संग अंग ऐड़े करि डोलैं ।।

बरनै दीन में दयाल छाँछ भरि लीजै भाँडे।
कहा कहौं इतिहास सुनै को इत हे पांडे ॥ २२ ॥

माली

माली तेरे बाग में चन्दन लगो बिसाल।
ताप करै किन दूरि तू खोजत कितै बिहाल ॥
खोजत कितै बिहाल तिहूँ गुन यामैं देखो।
कटु अरु सीत सुगंध भली बिधि करो परेखो ॥
बरनै दीनदयाल भूलि भरमै कित खाली।
जाको बरनै बेद सोई यह चंदन माली ॥ २३ ॥

कुलाल

कैसो मद में है भरो याकी करो पिछान।
यहि कुलाल को देखिये अहो प्रपंच-निधान ॥
अहो प्रपंच-निधान रंच काहू नहिं मानै।
आपै बने बिरंचि समो बहु रचना ठानै ॥
बरनै दीनदयाल समै अब आयो ऐसो।
विधि की समता करै कुलाल कूर यह कैसो ॥ २४ ॥

रजक

एरे मेरे धोबिया तोसों भाखत टेर।
ऐसी धोनी धोय जो मैला होय न फेरि ॥
मैलो होइ न फेरि चीर इहि तीर न आवै।
साबुन लाउ बिचार मैल जातें छुटि जावै ॥
बरनै दीनदयाल रंग चढ़िहै चहुँ फेरे।
जो तू दैहै धोय भले जल उज्वल एरे ॥ २५ ॥

ग्वालिनी

बारि बिलोवै, डारि दधि अरी आँधरी ग्वारि।
ह्वै है श्रम तेरो वृथा नहिं पैहै घृत हारि ॥
नहिं पैहै धृत हारि हँसैगी सखी-सयानी।
तू अपने मन मान रही घर की ठकुरानी ॥
बरनै दीनदयाल कहा दिन योंही खोवै।
पछितैहै री अन्त कंत ढिग बारि बिलोवै ॥ २६ ॥

तमोलिनी

बौरी दौरी में धरे बिन सींचे मति भूल।
फेरे क्यों न तमोलिनी ! सूखे सड़े तमूल ॥
सूखे सड़े तमूल बहुरि पाछे पछितैहै।
ऐहै गाहक लैन कहा तब ताको दैहै ॥
बरनै दीनदयाल चूक जनि तू इहि ठौरी।
आछी भाँति सुधारि बस्तु अपनी रखि बौरी ॥ २७ ॥

(अन्योक्ति कल्पद्रुम से)

नीच बड़न के संग तें पदवी लहत अतोल।
परे सीप में जलद जल मुकुता होत अमोल ॥ २८ ॥

अधम मलीन प्रसंग ते अधमै ही फल होत।
स्वाति अमृत अहि मुख परे बनि विष होत उदोत ॥ २९ ॥

श्री को उद्यम तें बिना कोऊ पावत नाहिं।
लिए रतन अति जतन सों सुर असुरन दधि माहिं ॥ ३० ॥

परे विपति मैं दुष्ट कों मोचत नाहिं प्रवीन।
बंधन तैं अहि छुटि धरै करै प्रा ते हीन ॥ ३१ ॥

नीच महत के संग तें पावत पद सुमहान।
कंटक कुसुम के संग करै सिव सिर ऊपर थान ॥ ३२ ॥

जा मन होय मलीन सो पर संपदा सहै न।
होत दुखी चित चोर को चितै चन्द रुचि रैन ॥ ३३ ॥

नीच संग तें सुजन की मानि हानि ह्वै जाय।
लोह कुटिल के संग तें सहे अगिन घन घाय ॥ ३४ ॥

गये असज्जन की सभा बुध महिमा नहिं होय।
जिमि काकन की मंडली हंस न सोहत कोय ॥ ३५ ॥

बड़े बड़न के भार कों सहैं न अधम गँवार।
साल तरुन मैं गज बँधै नहिं आँकन की डार ॥ ३६ ॥

नहिं धन धन है परम तोषहि कहैं प्रवीन।
बिन संतोष कुबेरऊ दारिद दीन मलीन ॥ ३७ ॥

करैं न बुध बिस्वास को प्रियवादी खल संग।
सुनि बीना की मधुरता मारे जात कुरंग ॥ ३८ ॥

कीजै सत उपकार को खल मानै नहिं कोय।
कंचन घट पै सींचिए नींब न मीठो होय ॥ ३९ ॥

निज सदनहुँ नहिं मानही निरधन जन कों कोय।
धनी जांय पर घर तऊ सुर सम पूजा होय ॥ ४० ॥

बहु छुद्रन के मिलन तें हानि बली की नाहिं।
जूथ जम्बुकन तें नहीं केहरि नासे जाहिं ॥ ४१ ॥

साधुन की निंदा बिना नहीं नीच विरमात।
पियत सकल रस काग खल बिनु मल नहीं अघात ॥ ४२॥

कोप न करैं महान छिद्र पाय खलन तें दूष।
लौन सींचि कर पीडिए तऊ मधुर रस ऊष ॥ ४३ ॥

पराधीनता दुख महा सुख जग मैं स्वाधीन।
सुखी रमत सुक बन विषे कनक पींजरे दीन ॥ ४४ ॥

तहाँ नहीं कछु भय जहाँ अपनी जाति न पास।
काठ बिना न कुठार कहुँ तरु को करत बिनास ॥ ४५ ॥

भीर परै जो बड़नि कों वारि सकैं नहिं नीच।
गिरि दव घनहीं तें बुझै नहीं घटन तें सींच ॥ ४६ ॥

नीच करै वर करम सिद्धि होय न बीसै बीस।
पिवत अमीरस राहु को दूरि कियो हरि सीस ॥ ४७ ॥

दोष गहै गुन नहिं गहै खल जन रहै अधीर।
लगी पयोधरि रुधिर को पियै जोंक नहिं छीर ॥ ४८ ॥

संकट हूँ मैं होय के पर दुख हरैं महानु।
जलद पटल झंपति तऊ जग तम नासत भानु ॥ ४९ ॥

निर-बुद्धि धनमान कों मानत सकल जहान।
लखि दरिद्र विद्वान कों जग जन करैं गिलान ॥ ५० ॥

कुलहि प्रकासै एक सुत नहिं अनेक सुत निन्द।
चन्द एक सब तम हरै नहिं उड़गन कै बृन्द ॥ ५१ ॥

केहरि को अभिषेक कब कीन्हों विप्र समाज।
निज भुजबल के तेज तें विपिन भयो मृगराज ॥ ५२ ॥

नहीं धन धन है बुध कहैं विद्या वित्त अनूप।
चोरि सकै नहिं जोरऊ छोरि सकै नहिं भूप ॥ ५३ ॥

छीर होत तृन खाय कै पय तें विष ह्वै जाय।
यहि विधि धेनु भुजंग रद पात्र कुपात्र लखाय ॥ ५४ ॥

खल जन को विद्या मिलै दिन दिन बढ़ै गुमान।
बढ़ै गरल बहु भुजँग कों जथा किये पय पान ॥ ५५ ॥

खल जन रहैं कुसंग मैं करि उमंग सो बास।
ज्यों बायस मलकुंड मैं करि करि रमै हुलास ॥ ५६ ॥

चंचल खल की प्रीति कों गये अलप बुध गाय।
ज्यों घन छाया गगन की छन मैं जाय नसाय ॥ ५७ ॥

प्रीति सीखबो चाहिए छीर नीर के पास।
वह दै कीमति मधुर छवि वह संग सहै हुतास ॥ ५८ ॥

तजि मुकता भूखन रचैं गुंजन के बसु जाम।
कहा करै गुन जौहरी बसि भीलन के ग्राम ॥ ५९ ॥

आये औगुन एक के गुन सब जाय नसाय।
जथा खार जलरासि को नहिं कोऊ जल खाय ॥ ६० ॥

जैसे धूम प्रभाव तें गगन होत न मलीन।
तथा कुसंगति पाय कै मलिन न होहिं प्रवीन ॥ ६१ ॥

भाग्य फलत है सकल थल नहिं विद्या बलबाँह।
पायो श्री अरु गरल को हरि हर नीरधि माँह ॥ ६२ ॥

बुरे भले पर हैं न कछु औसर सबै प्रमान।
चना लगै प्रिय भूख मैं नहिं पीछे पकवान ॥ ६३ ॥

इक बाहर इक भीतरै इक मृद दुहु दिसि पूर।
सोहत नर जग त्रिविधि ज्यों बेर बदाम अँगूर ॥ ६४ ॥

जुवा अवधि मैं सुधिन हूँ ह्वै आवत अभिमान।
जैसे सरिता विमल जल बाढ़त होत मलान॥ ६५॥

वचन तजैं नहि सतपुरुष तजैं प्रान बरु देस।
प्रान पुत्र दुहूँ परिहर्‌यो वचन हेत अवधेस॥ ६६॥

सुख दुख हैं मन के धरम, नहीं आत्मा माँहिं।
ज्यों सुषुपति मैं द्वन्द्व दुख मन बिनु भासै नाहिं॥ ६७॥

(दृष्टांत-तरंगिणी से)

चम्पक

धारे खेद न रहिय चित हे चम्पक कमनीय।
कहा भयो अलि मलिन हिय जौं नहि आदर कीय॥
जौं नहिं आदर कीय मानि तोहि मंद अभागी।
कुटज करीर कुसाखि कुसुम को भो अनुरागी।
बरनै दीनदयाल नील नीरन सम कारे।
कुसल रहैं वे केस कुसेसै नैनि सुधारे॥ ६८॥

पलास

दिन द्वै पाय बसन्त मद फूल्यौ कहा पलास।
ग्रीषम ठाढ़ी सीस पै नहि लाली की आस॥
नहिं लाली की आस फूल सब तेरो झरिहैं।
पीछे तोहि न दली अली कोउ आदर करिहैं॥
बरनै दीनदयाल रहे नय कोमल किन ह्वै।
ए नख नाहर रूप रहैंगे तेरे दिन द्वै॥ ६९॥

अर्क

तो मैं बहु ऐगुन भरे अरे आक मति-हीन।
कहा जान केहि हेतु तैं हर तो सों हित कीन॥
हर तो सों हित कीन तऊ उन केरि बड़ाई।
तू मति भूलै मूढ़ मानि अपनी प्रभुताई॥
बरनै दीनदयाल बात सुनि भाषत जो मैं।
सिव की दाया एक आक बहु ऐगुन तो मैं॥ ७०॥

(अन्योक्ति माला से)

प्रतापनारायण मिश्र

इनका जन्म १८५६ ई० में उन्नाव जिले में हुआ था। स्कूल की शिक्षा में इनका जी नहीं लगा, इसीलिए ये अधिक नहीं पढ़ सके थे, किन्तु स्कूल छोड़ने के बाद अपने अध्यवसाय से इन्होंने फारसी, संस्कृत आदि का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। मिश्र जी का पत्र 'ब्राह्मण' तत्कालीन पत्रों में बहुत ही लोकप्रिय था। इनकी लिखी और अनूदित छोटी-बड़ी लगभग दो दर्जन से ऊपर पुस्तकें मिलती हैं। नीति और उपदेश से संबद्ध इनके 'कलि-कौतुक रूपक', 'कलि प्रभाव-नाटक', 'गो-संकट नाटक' तथा 'जुआरी-खुआरी' प्रहसन आदि कई नाटक मिलते हैं। इनकी एक छोटी-सी नीतिकाव्य की पुस्तक 'लोकोक्ति-शतक' बहुत ही सुन्दर बन पड़ी है। इस पुस्तक की विशेषता यह है कि इसके हर छन्द में बहुत सुन्दर ढंग से एक लोकोक्ति का प्रयोग हुआ है। इनका देहांत १८६८ में हुआ। नीचे 'लोकोक्ति-शतक' से कुछ छन्द दिए जा रहे हैं—

जिन सो हारेहु हार जीतेहू हार है।
तिन्हें वृथा उपदेश सबै परकार है॥
ज्ञान-दग्ध जड़ हठ न तजै निज जीवते।
नीम न मीठी होय जु सींचै घीव ते॥ १॥

निज हित साधै निलज ह्वै, तिहि किमि अरि दुख देइ।
नंगा परा बजार माँ, चोर बलैया लेइ॥ २॥

प्रीति परस्पर राखहु मीत, जइहैं सब दुख सहजहि बीत।
नहिं एकता सरिस बल कोय, एक एक मिल ग्यारह होय॥ ३॥

अवसर पर कीन्हों नहीं यदि कछु प्रयत्न हित हेत।
फिर पछिताए क्या हुआ, जब चिड़ियाँ चुन गईं खेत॥ ४॥

अहो मित्र धन संचय करौ, सब गुन गन छप्पर पर धरौ।
जिहि बिन बुद्धि बिकल सब काल, सौ चण्डाल न एक कंगाल॥ ५॥

गये समय के सोच में प्रस्तुत काल न देय।
बीती ताहि बिसार दे आगे की सुधि लेय॥ ६॥

श्रमी साहसी दृढ़ बरियार, ताहि सहज जग पर अधिकार।
झूठ न कहैं बात जग ऐसी, जिहि कै लाठी तिहि कै भैंसी॥ ७॥

मुख में चारि वेद की बातें, मन परधन परतिय की घातें।
धनि बकुला भक्तन की करनी, हाथ सुमिरनी बगल कतरनी॥ ८॥

सत्य योग्यता हित चित देहु, छाड़हु मृषा ख्याति कर नेहु।
झूठी पदवी सुख केहि ठाम, चलै न पावै कूदन नाम॥ ९॥

बिन समरथि झूठी आशा दै काहुहि करु न खराब।
उस दाता से सूम भला जो जल्दी देय जवाब॥ १०॥

दुरबल के नित होहु सहाय, हरि तूठैं जग जस ह्वै जाय।
ताहि सताए श्रमहु अकाथ, 'बकुला मारे पँखना हाथ॥ ११॥

दोष रहित केवल परमेश्वर, अति अनुचित हँसिबो काहू पर ।
निज कृत अज्ञ कहा भूले हैं, 'घर घर मिट्टी के चूल्हे हैं' ।। १२ ।।

दुख सुख सब कहँ परत है पौरुष तजहु न मीत ।
मन के हारे हार है मन के जीते जीत ।। १३ ।।

कछु अनहोनी नहिं जग माहिं, चहिय खोटि धीरज महँ नाहिं ।
जानहिं बाल वृद्ध सब कोय, 'घँसे घँसे घन कुल्हरा होय' ।। १४ ।।

जो कछु लखि न परै निज हानि, तौ समाज की तजहु न कानि ।
क्यों बिन स्वारथ सहिये खिल्ली, पंच कहै बिल्ली तौ बिल्ली ।। १५ ।।

काम सदा सब ते बढ़ि कीजै, पै अगुवाई कबहुँ न लीजै ।
छोटे काज नाशि लड़ते हैं, 'बड़े कड़ाही में पड़ते हैं' ।। १६ ।।

सुधिहि सुशीलहि सज्जनहि सोह न अस आचार ।
'आँखिन देखे चेतना मुख देखे व्यौहार' ।। १७ ।।

पाँच पंच मिलि करहिं तौ कठिनहु कारज सोझ ।
'सात पाँच की लाकरी एक जने का बोझ' ।। १८ ।।

भाय भाय आपस में लरैं, परदेसिन के पायन परैं ।
यहै द्वेष भारत शशि राहु, घर का भेदिया लंका दाहु ।। १९ ।।

भाय पतनक परस्पर नहि जहँ, सरल सनेह न हरि चरनन महँ ।
जगतदास कस होहि न आरज, निबर की जुइया सब कै सरहज ।। २० ।।

बिन व्यवहार कुशलता सिखे, होईहिं कछु न पढ़े औ लिखे ।
हँसिहैं बात बात पर लाग, ब्राह्मन साठ बरस लग पोंग ।। २१ ।।

एक बार सर्बसु नशानो कहीं चूकते ।
ताहू पर उद्यम चतुर नहीं चूकते ।
कौड़ी नष्ट कोशते बची अमुत होती है ।
भागे भूत की लँगोटी बहुत होती है ।। २२ ।।

इष्ट सिद्ध महँ परै जु विघ्न, तबहूँ मन न करौ उद्विग्न ।
होइहि अवसि अटूट श्रम करौ, सेतुआ बाँधि के पाछे परौ ।। २३ ।।

निरश्रम निलज निरालसी, बनहु जु चहहु समृद्धि ।
अष्ट कपारी दारिदी जहाँ जाय तहँ सिद्धि ।। २४ ।।

महि सीखत सतगुन करि छेमा, निज हठ तजि न प्रचारत प्रेमा ।
तापर सुख चाहत अज्ञानी, किस बिरते पर तत्ता पानी ।। २५ ।।

करत नहीं श्रम निज हित हेत, काल कर्म कहँ दूषन देत ।
बुद्धि आलसिन की गई बेढ़, नाचि न आवै आँगन टेढ़ ।। २६ ।।

छोड़ि नागरी सुगुन आगरी उर्दू के रंग राते ।
देशी वस्तु विहाय विदेसिन सो सर्वस्व ठगाते ।।
मूरख हिंदू कस न लहैं दुख जिनकर यह ढंग दीठा ।
घर की खांड खुरखुरी लागै, चोरी का गुड़ मीठा ।। २७ ।।

नीके देखि भाल परिनाम, पाछे चतुर अरंभै काम ।
मूरख कर श्रम बिरथा जाय, अंधा पीसे कुत्ता खाय ।। २८ ।।

जहँ राखन चाहहु व्यवहार, अधिक रखहु तहँ न्याय विचार।
लेहु न भूलि सकुच कर नाम, खरी मजूरी चोखा काम ॥ २९ ॥

इन्द्रिय स्वाद निरत जन जोइ, ताहि अवसि दुख होइहि होइ।
भोग रोग कहँ को बिलगावै, जो गुड़ खाय सो कान छिदावै ॥ ३० ॥

होनहार बिन सोचे, कारे काज मनमाना।
तिहि कहँ पुरुष सयाने, निपटहि कहैं अयाना।

कालहि अवशि दुख सहि हैं, आज हँसैं हरखाई।
बुकरा कै महतारो, कब लग कुशल मनाई ॥ ३१ ॥

जाके किए होत कछु नाहि, ताहि बहुत परपंच सुहाहि।
दोष छिपावत बात बनाय, अधजल गगरी छलकत जाय ॥ ३२ ॥

दुःख सुख सब कहँ परत है, पौरुष तजहु न मीत।
मन के हारे हार है मन के जीते जीत ॥ ३३ ॥

दान दीन कहँ दीजै, धनहिं दिए धन छीजै।
समझहु तौ मति धीरा, ऊँट के मुँह का जीरा ॥ ३४ ॥

अर्थ-संकेत

११. पँखना = पंख। १४. खोटि = कमी, खराबी। घन = बड़ा हथौड़ा। १८. सोझ = सीधा। २०. जुइया = स्त्री। २२ अमुत—बहुत।

रामचरित उपाध्याय

द्विवेदी-युग के सुपरिचित कवि रामचरित उपाध्याय अपने 'रामचरित चिंतामणि' नामक ग्रंथ के लिए प्रसिद्ध हैं। इनका जन्म सन् १८७२ ई० में गाजीपुर में हुआ था। इनका संबन्ध आजमगढ़, काशी तथा इटावा आदि से भी रहा। आरम्भ में ये अवधी और ब्रजभाषा में रचना करते थे, पर बाद में खड़ीबोली में करने लगे। इनकी रचनाओं की संख्या लगभग दो दर्जन है। नीतिकाव्य की दृष्टि से 'उपदेश रत्नमाला', 'सूक्तिशतक' तथा 'ब्रज सतसई' इनकी ये तीन रचनाएँ प्रमुख हैं। यों इनके अतिरिक्त भी इनकी बहुत-सी नीति कविताएँ द्विवेदी-युगीन पत्र-पत्रिकाओं में बिखरी पड़ी हैं। इनकी नीति कविताएँ रहीम और वृन्द की भाँति उच्च कोटि की हैं। प्रायः नीति की बातों को सुन्दर उदाहरणों से उद्धृत किया गया है। इन्होंने दोहा, सोरठा और कवित्त आदि छन्दों का प्रयोग प्रमुख रूप से किया है। इनके विषय जीवन के सभी कोनों से लिए गए हैं। इस प्रकार प्रायः सभी प्रकार की नीतियाँ इनमें मिल जाती हैं। इन पर संस्कृत के नीतिकवियों का पर्याप्त प्रभाव है।

नीचे इनके कुछ छन्द दिए जा रहे हैं—

जनमें जदपि सुवंस मैं, खल तनु दुखद कराल।
चन्दन हूँ की आग तैं, जरै देह ततकाल ॥ १ ॥

प्रभुता पाइ न मद-सन्यौ, जौवन काम-बिकार।
सो नर-वर संतत सुखी, नारायन-अवतार ॥ २ ॥

नारी, गुरु, पितु, मातु, सुत, सचिव, महीपति, मीत।
बन्धु, बिप्र हूँ दंडिये, धर्म-बिमुख, यह नीत ॥ ३ ॥

निन्दक, बंचक, चुगल अरु, बिनु-चाहे जो जाय।
सोऊ यदि मानव बनै, दानव कौन कहाय ॥ ४ ॥

मिलि दुरजन दुख देत हैं, रहिये कितौ सचेत।
साँप-खेलारी-मीच कौ, होत साँप ही हेत ॥ ५ ॥

मुखिया बनिबो कठिन अति, परिनिति लखि कै भाग।
देखु सुमेरहिं भेदि हिय, पोहत दोहरो ताग ॥ ६ ॥

तिय-बस पंडित हू परे, कहा सकत करि नाहिं।
प्रान तजे दसरथ तुरत, सुत पठये बन माहिं ॥ ७ ॥

धरम बिमुख, खर-स्वान-अहि, कृपन, कुमीतरु, राँड़।
दूरहि ते दस बरजिये, उनमत, भड़ुआ, भाँड़ ॥ ८ ॥

दुर्लभ सो नर जगत में, मानव-कुल-सिरनेत।
जो बिनु माँगे ही रहे, जो बिनु माँगे देत ॥ ९ ॥

गोमुख होवे छीर तृन, बिख-मुख छीर भुजंग।
जौ चाहत अपनी कुसल, करु केवल सतसंग ॥ १० ॥

सुख सपनो, दुख दुगुन नित आँतर दिन उपवासु।
भोगत नरक सदेह सो, गेह कुनारी जासु ॥ ११ ॥

नारी-गृह-भूखन-बसन, नूतन रहे बखान।
दास-वैद-मन्त्री-महिप, तंदुल-पान पुरान ॥ १२ ॥

मरन-हरन सुनि होय जो, पंडित हू हिय खेद।
तौ ज्ञानी अरु मूढ़ में, कछुक रह्यो नहिं भेद ॥ १३ ॥

अन्नद, मन्त्रद, अभयप्रद, सुभ-विद्या-दातार।
'रामचरित' जुग चारि हूँ, पितु-समान ये चार ॥ १४ ॥

जाकौ मन जासौं रमै, जग कछु भलो न मन्द।
चहत चकोरी चन्द कौ, चकई चहत न चन्द ॥ १५ ॥

पति मूरख, बेस्या सलज, अविनय सुत, सठ मित्र।
सूम स्वामि, सेवक बधिर, सुखद न 'रामचरित्र' ॥ १६ ॥

तन अरोग, विनयी तनय, सुजन-संग, रिन-हीन।
सुतिय, वृत्ति थिर, जासु जग, सो सपने हुँ दुखी न ॥ १७ ॥

नहिं कोऊ ऐसो कहूँ, जाको रिपु जग नाहिं।
मीन कहा केहिको दुखद, हने जाहिं जल माहिं ॥ १८ ॥

तुलना साँचे साधु की, एक मलय ही लेत।
कुतरुहिं आश्रित देखिकै, निज समान करि देत ॥ १९ ॥

गुन-दुरगुन छिपि सकहिं नहिं, करिये कोटि उपाय।
तैल-बिन्दु जल माहिं ज्यौं, तुरत जात उतराय ॥ २० ॥

केवल गुन ही तें न जस, चहिये भाग-सहाय।
फूलत-फलत न देखिये, महँगो पान बिकाय ॥ २१ ॥

दाता नर अरु सूम में, लखिये भेद इतेक।
देत एक जियतहिं हरखि, देत मरे पर एक ॥ २२ ॥

भल-अनभल दोउन किये, जस बड़ेन के हाथ।
बसन बढ़ाइ चुराइ ज्यौं, सुजसी जग जदुनाथ ॥ २३ ॥

उपजे कहा कपूत के, बरुक नास निज होय।
धूम बनत बारिद बरसि, नासत अनल भिजोय ॥ २४ ॥

घृत लहिये जल मथि बरुक, अनल स्रवै बरु नीर।
पर सपनेहुँ न सुनि द्रवै, सूम पराई पीर ॥ २५ ॥

कबहुँ न बिना बड़ेन के, सरत बड़न को काज।
बिना ऊँट मेटे न ज्यौं, ऊँट-कंठ की खाज ॥ २६ ॥

मरत मरत हूँ सुजन कौ, भावत पर-उपकार।
अरध ग्रसेहूँ सूर-ससि, करहिं जगत उजियार ॥ २७ ॥

घटत-बढ़त सम्पति निरखि, सुजन करहिं नहिं मन्द ।
दुहूँ पाख सम भाव तें, जग-सुखदायक चन्द ॥ २८ ॥

दुरजन सुभ गुन गहत नहिं, कोटि जतन कर कोइ ।
मलय बीच उपजै तऊ, बेनु न चन्दन होइ ॥ २९ ॥

मँगिबो सम कुकरम नहीं, करत बुद्धि-बल-सेस ।
चोर्यौ सिय यति-रूप सौं, बनि भिच्छुक लंकेस ॥ ३० ॥

जबलौं घट में प्रान हैं, फेरै बैर जरूर ।
सिर केवल अवसेस तउ, राहु ग्रसत ससि-सूर ॥ ३१ ॥

जौ खल-मन अनमिल रहै, तौ हूँ कहा गलानि ।
गज न चढ़ैं बनचर तऊ, गज की कछुक न हानि ॥ ३२ ॥

गुन तें महिमा बढ़ति है, कुल आवत नहिं काम ।
क्यौं हूँ नहिं सीपी बिकै, कहुँ मोती के दाम ॥ ३३ ॥

गुनिहिं न जानत निरगुनी, वसत जदपि घर एक ।
कंज-गन्ध को तत्त्व अलि, जानत मूढ़ न भेक ॥ ३४ ॥

नीचहुँ घर जनमैं गुनी, तऊ आदरें लोग ।
ज्यौं कस्तूरी देखिये, हरि-सिर चन्दन-जोग ॥ ३५ ॥

संगति साधु असाधु लहि, जड़ को किरत स्वभाव ।
पियै एक तुम्बी रुधिर, एक सुबारि पियाव ॥ ३६ ॥

एकौ पल खल-संग नहिं, सुखदायक लखु तात ।
परि कुधातु कै संग मैं, पावक पीट्यौ जात ॥ ३७ ॥

सेवा बिफल बड़ेन की, किहूँ भाँति नहिं जात ।
देवी-बाहन बनि अजौं, रासभ चनो चबात ॥ ३८ ॥

अपनै तैं जो छुद्र अति, तेहि पर करिय न क्रोध ।
सोभा कबहुँ न देइ गो, केहरि-ससक-बिरोध ॥ ३९ ॥

को नहिं अपने थल बली, होय छीन कै पीन ।
मृग राजहु जल माँहि ज्यौं, धरि न सकत लघु मीन ॥ ४० ॥

दुख-सुख-धन-जीवन-मरन पैये बार करोर ।
बीत गयौ जो फिर कबौं, समय न मिलत बहोर ॥ ४१ ॥

बिन समुझे नहिं बोलिये, यहै नीति कौ सार ।
बचन-दोस ही तैं भयौ, कौरव-दल-संहार ॥ ४२ ॥

जड़मति निदरहिं बड़ेन को, छुद्रन नावहिं सीस ।
रतन राखि ज्यौं पग-तरे, तृन सिर बहत नदीस ॥ ४३ ॥

पर-उन्नति लखि कै सुजन, मन महँ पावत मोद ।
हरखि नचत महि मोर ज्यौं, गरजत निरखि पयोद ॥ ४४ ॥

बैर-प्रीति दोऊ सहज, आपै होहिं, सिखे न।
लखु चकोर-ससि, अहि-नकुल, कहुँ उपदेस गहे न ॥ ४५ ॥

बिनु फूटे निज जाति के, हानि लह्यौ कब कोय।
लोहा काट्यौ जात तब, लोह-छिनी जब होय ॥ ४६ ॥

भूँकत सो काटत नहीं, गरजत सो बरसै न।
पोल दमामो ह्वै न जो, अधिक अवाज कढ़ै न ॥ ४७ ॥

जारज पाँचहु पति तऊ, द्रुपदिहि अजस न कोय।
अजस लही सीता सती, बड़े भाग जस होय ॥ ४८ ॥

तौलौं ही डर बिपति सों, जब लौं बिपति सु दूर।
नद में डूबै नाव तौ, पैरे परियत पूर ॥ ४९ ॥

कबि, कोबिद, केहरि, जलद, साँप, साधु ये सात।
जहँ जाहि इनके लिये, तहँ गेह बनि जात ॥ ५० ॥

अहि सिखवत सुत वक्र गति, सुनहु तात जग बेड़।
टेढ़ो रहत निचिंत नित, सूधा कटियत पेड़ ॥ ५१ ॥

बिधि-गति, तिय-मति,सूम-बित, नृप अरु कुजन विचार।
जो जन जानै ताहि की, महिमा गही अपार ॥ ५२ ॥

निज गुनहूँ कहुँ देखिये, दुखद होत निरधार।
तेहि घोड़े पर सब चढ़ैं, जो सुठि धावनिहार ॥ ५३ ॥

माटी चाखत सूम लखि, लियौ तनय-मुख चूम।
बिहँसि कह्यौ मन माहि निज, सुत मोहूँ तें सूम ॥ ५४ ॥

मुखिया सों बनि सकत है, जो महेस-सिख लेइ।
अनुगामिन प्यावै सुधा, आप गरल रह सेइ ॥ ५५ ॥

कहियै किमि, लखि लीजियै, गुनौ हानिकर होय।
बाज बाँधि कै राखियत, चील्ह न बाँधत कोय ॥ ५६ ॥

मधुर बचन तैं होत जस, नाहि जाति सौं काम।
काग-गेह कोयल पली, तऊ जगत मैं नाम ॥ ५७ ॥

बकवत रहियै जगत मैं. बक-बक किये अकाज।
बहु बोले भारत भयौ, बिनसे उभय समाज ॥ ५८ ॥

लौकी-गति-सम साधु की, गति जानियै अहेत।
आप तरैं अरु आनहूँ, पार उतारे देत ॥ ५९ ॥

उत्तम गुन नहिं भूलिकै, दीजै अधमिन हाथ।
फल उलटौ मिलि जात ज्यौं, भसमासुर-पसुनाथ ॥ ६० ॥

('ब्रज सतसई' से)

सारहीन बाँस यदि मलय के मध्य जमे,
तो भी नहीं उसमें सुवास-लेश आवेगा।
सरसिज-शोभी सरसी में यदि भेक रहे,
तो भी न सरोज के पराग वह खावेगा।
सुरनारियों के साथ में भी रह कर षंड,
जन्म को बितावे पर सुख क्या उठावेगा।
घूमा करे दिन रात कल काव्य-कानन में,
तो भी नर-पशु काव्य-फल को न पावेगा॥ ६१॥

मरु के प्रदेश में न आम फल सकता है,
चाहे उसे कोटि यत्न करके लगाइए।
लसुन के रस में न आवेगी सुगन्ध कभी,
चाहे आप उसे इत्र से ही सिंचवाइए।
गधे को न गान-ज्ञान उर बीच उपजेगा,
चाहे उसे नित्य सामवेद को सुनाइए।
क्रूर की भी क्रूरता न दूर होगी किसी भाँति,
चाहे उसे बिधि बन कर समझाइए॥ ६२॥

स्वर की सरसता को बधिर न जानता है,
रूप के लावण्य को न अन्धा कभी जानेगा।
दाख की मधुरता को पहचानता न काक,
आदी के सुस्वाद को न कपि पहचानेगा।
प्रसव की वेदना को बन्ध्या नहीं जानती है,
बक अपने से स्वच्छ हंस को न मानेगा।
गुणियों के काम को न जानता है गुणहीन,
यश को यशस्वी के न अयशी बखानेगा॥ ६३॥

धनियों की धनहीन, गुणियों की गुणहीन,
कर लें बुराई भर पेट पछतायँगे।
बलियों से बलहीन, मानियों से मानहीन,
डाह करें किन्तु कुछ फल नहीं पायँगे।
कृतियों से अकृती विवेकियों से निर्विवेक,
टाँग को अड़ा के कैसे मुँह की न खायँगे?
कवियों के अकवि दिखा के दोष लाख बार,
चाहे मर जायँ, पर कवि न कहायँगे॥ ६४॥

कैसा वह पारस जो लोहा को न सोना करे,
विप्र वह कैसा जिसे शास्त्र का न ज्ञान है।
वज्र वह कैसा जो पर्वतों को न चूर्ण करे,
कैसा वह क्षत्री जो कि नहीं बलवान है।
कल्पतरु कैसा जो न कामना को पूर्ण करे,
वैश्य वह कैसा जो कि करता न दान है।

खल वह कैसा जो न निन्दा करे सज्जनों की,
साधु वह कैसा जिसे खल पर न ध्यान है ।। ६५ ।।

(सूक्ति-शतक से)

अर्थ-संकेत

२. संतत = सर्वदा । ८. सिरनेत = श्रेष्ठ । २३. कृष्ण ने द्रौपदी का वस्त्र बढ़ाया और गोपियों का चुराया । २४. भिजोय = भिगोकर । ३४. भेक = मेढक । ३६. तुम्बी = (१) फोड़े आदि से खून निकालने की । २. साधुओं के पानी पीने को । ३८. रासभ = गधा । ४५. नकुल = न्यौला । ५८. लौकी (रूखी) को पकड़कर उसके सहारे तैरा या नदी आदि को पार किया जाता है । ६०. शिव ने भस्मासुर को वरदान दिया कि तुम जिसके भी सिर पर हाथ रखोगे, वह जल जाएगा । वरदान पाते ही वह शिव पर ही अपना हाथ रखने चला था ।

— —

दामोदरसहाय सिंह 'कवि किंकर'

'कवि किंकर' आधुनिक काल के कवि हैं। इनका जन्म १८५७ ई० में छपरा (बिहार प्रान्त) में हुआ था। इनकी कविताएँ प्रमुखतः शृंगार, भक्ति, नीति तथा राष्ट्र-विषयक हैं। इनकी प्रकाशित पुस्तक 'सुधा-सरोवर' में इनके नीति के लगभग दो सौ छंद 'नीति-निचय' नाम से संगृहीत हैं। आपके द्वारा लिए गए नीति के प्रमुख विषय उद्यम, गुरु, धन, राजनीति, तृष्णा, कवि, खेती, सज्जन, मित्र, वकील, नारी, गुण तथा उपकार आदि हैं। इनकी कविता कला की दृष्टि से सामान्य कोटि की है। इनकी भाषा ब्रज है, यद्यपि खड़ीबोली का भी उस पर प्रभाव है।
नीचे इनके कुछ नीति के छंद दिए जा रहे हैं—

माँगिबे ते अपमान अवस्यहिं मैंने बिचार कियो मन माहीं।
त्योंहि 'दमोदर' ऊँचन को पदवी घटि नीचन में मिलि जाहीं॥
देखहुँ बूझि बिचारि भले जगदीसहुँ जाँचन गो बलि पाहीं।
तीनहिं पैग तिलोक कियो तउ नाम परो हरि को बवनाहीं॥ १॥

ग्रंथन की मति है बुध-संत-सुजान सिरोमनि हूँ जे कहावैं।
त्योंहि 'दमोदर' सार अहै जग में सब ही उपकार बतावैं॥
औसि प्रसंसिये पंकन को जल जाते बिहंगम काम चलावै।
आग लगे वहि सागर में जेहि को जल काहु के काम न आवै॥ २॥

है निचहै हमरे जिय में बुध लोग सबै जग माहिं बतावत।
ना बिगरै कछु सज्जन को खलता बस जो खल लोग सतावत॥
देखो प्रतच्छ 'दमोदर जू' बरु पामर ते उलटो फल पावत।
धूर उड़ाइये सूरज पै फिरि कै अपुने सिर पै पुनि आवत॥

बीनन की मधुरी धुनि को सुनि रीझत प्रान कुरंग गँवायो।
त्योंहि 'दमोदर' फूलन के मधु गंधन रीझन भौंर नसायो॥
दीपक हूँ पर रीझि पतंगन बातिन में निज गात जरायो।
वे नर हैं पसुहूँ ते बढ़े जिनते कछु रीझत हूँ नहिं पायो॥ ४॥

यद्यपि लभ्य महा दुखते अति बाम करै पुनि पन्नग धारन।
कीचन ते उपजी फल-हीन जहाँ तहाँ कंठक डार-हि-डारन॥
केतिक तू सबको हित है इक आपुने सुंदर सौरभ-कारन।
यातें करौ निहचै सुजनो गुन एक हुँ नासत दोष हजारन॥ ५॥

साँगर पर चल साझ की सूई हतै उपखान।
मिलि कछु काम न करि सकत, बैर बिरोध प्रधान॥
दान भोग अरु नास कहि धन-गति तीन बखान।
जो न देइ, भोगे नहीं, ता गति तीजी जान॥ ६॥

कबौं कठोर कठिन पत्थर को कबौं मोम को हियो करै ।
कबौं सूम ह्वै धन को संचै कबौं दानि ह्वै दियो करै ।।
कबौं साँचि कहि, कबौं झूठ कहि, काम आपनो लियो करै ।
'दामोदर' नृप-नय बहुरूपी या बिधि कौतुक कियो करै ।। ७ ।।

कहूँ साँच असाँच कठोर कहूँ कहूँ कोमल कंठहि ते उचरै ।
हनि के बहु जीवन को कबहुँ सुदयालुन को कबौं टेक धरै ।।
बनि सूम उदार 'दमोदर' बित्तहिं संचय कै कबौं दान करै ।
नृप तीनि अनेक स्वरूप धरै बर बारि-बिलासिनि-सी-बिहरै ।। ८ ।।

अर्थ-संकेत

५. **निहचै**=निश्चय । ६. साँगर=एक बड़ा डंडा जिसमें लटकाकर साझे की चीज ले जाते हैं। इसे भोजपुरी में 'सेंगरा' कहते हैं। साझ=साझा, साँझा ।

शिवरत्न शुक्ल 'सिरस'

'सिरस जी' आधुनिक कवि हैं। इनका निवास रायबरेली जिले का बछरावाँ नामक स्थान है। इनका रचना-काल २०वीं सदी के प्रथम चरण का उत्तरार्ध तथा उसके बाद है। इन्होंने 'श्रीरामावतार' 'प्रभु चरित्र' 'आर्य सनातनी संवाद', 'भरत-भक्ति' 'सिरस-नीति-सतसई' तथा 'परिहास-प्रमोद' आदि कई पुस्तकें लिखी हैं।

'सिरस' जी की नीति सतसई बड़ी ही प्रौढ़ तथा सुन्दर रचना है। इसके प्रमुख विषय न्याय, दुःख, सुख, गृहस्थी, धन, दान, प्रकृति, नकल, गुण, चालाकी, नीच, स्वार्थ, स्त्री, क्रोध, हठ, मर्यादा, स्वास्थ्य, देशोत्थान, राजा, प्रजा, कवि, संग बुद्धि, धर्म तथा सत्संग आदि है। उदाहरण तथा दृष्टान्त आदि नीति-काव्योपयोगी अलंकारों के सुन्दर प्रयोग के कारण इनके छन्द रहीम तथा वृंद आदि की भाँति बड़े ही प्रभविष्णु हैं। सतसई की भाषा ब्रज है, पर उस पर अवधी (प्रमुखतः बैसवाड़ी) का प्रभाव है। सतसई के 'प्राक्कथन' में हरिऔध जी ने इनकी ब्रजभाषा को वृंद से कहीं सुन्दर कहा है।

'सिरस' जी ने विषयों के चयन तथा निर्वाह में आधुनिक युग का भी ध्यान रखा है, किन्तु उदाहरणों की दृष्टि से तो यह ध्यान और भी अधिक रक्खा गया है। आपने नीति के सामान्य सिद्धान्तों का मोटर, पंखा, रेल, वायुयान तथा बिजलीघर आदि के उदाहरणों से बहुत सुन्दर समर्थन किया है।

नीचे के दोहे सिरस जी की "नीति सतसई' से लिए गए हैं—

लोकनीति जो निरत तिहि परलोकहु सुख-मूल।
सींचत तरुवर तरे महि फूलत फुनगी फूल ॥ १ ॥

पहुँचि बड़ेन के पास हूँ, छोट छुटाई कीन।
रतनाकर में पैठि कै, मछुआ पकरत मीन ॥ २ ॥

कोउ न दुरजन आदरै, सज्जन सबहि सोहात।
खटो आम सिल पै पिसै, मीठो चाटो जात ॥ ३ ॥

पर सुख हित नित दुख सहैं सज्जन सहज सुजान।
अन्न आगि मैं तपि गलत छुधा निवारत आन ॥ ४ ॥

घर में खटपट जो भई, कहौ चैन फिरि काहि।
जीभ स्वाद लै भखत जिहि, पेट न पचवत ताहि ॥ ५ ॥

टेंट माँहि पैसा जबै, तब सब पूछत बात।
सजल कूप बिरमत पथिक, सूखे पास न जात ॥ ६ ॥

दान देत जो लहत पुनि भरत कोष बहु बार।
निकरत जल जिहि कूप सों पुरवत सोत अपार ॥ ७ ॥

सूम बनै जो समय पै असमय खरचै काह।
ढरकि जवानी जब गई, चली करन तिय ब्याह ॥ ८ ॥

बैर भाव अनहित करत द्वेष दुहुँन के जीय ।
सूपनखा-नासा नसी, हरी गई सुचि सीय ॥ ८ ॥

आसन ऊँचो कर्म लघु कहे बुरे जन जायँ ।
बसैं ताड़ पै गिद्ध तउ, मृतक-जीव महि खायँ ॥ १० ॥

बड़े संग में छोट हूँ सुख पावैं अनयास ।
खस-टट्टी पंखा-तरे, चपरासिन को बास ॥ ११ ॥

जो नीचन ऊँचो करत मुख कारख लागि जाय ।
चिमनी कारो होति है, धूम गगन पहुँचाय ॥ १२ ॥

नीचे नीचहि अति भलो, ऊँचे जाय नसाय ।
महि भीतर तरु-जड़ सरस, सूखे ऊपर आय ॥ १३ ॥

नकल असल सों बढ़ि दिखै, गुन को नहि परभाव ।
मुरझै कागज फूल नहि, पै न मधुप मधु पाव ॥ १४ ॥

जबलौं सधै न काज निज तबलौं ताको हेत ।
फसल काटि लीन्हों जबै फिरि नहि सींचत खेत ॥ १५ ॥

चाल चलाकी को चलै होवै बुद्धि बिनास ।
भस्मासुर सिव नास चह भयो आपु ही नास ॥ १६ ॥

बुरो भलो सम बनि चमै, करु बिस्वास न ताहि ।
कास-धातु रुपिया बनो, माँजि दोष दिखाहि ॥ १७ ॥

मलिन मनुज को संग करि, को न मलिन ह्वै जाय ।
हींग हाथ जिहि छुइ छुयो आनिहु वस्तु बसाय ॥ १८ ॥

लोभ बढ़ैं नित जब हिये, शांति बिराग नसाय ।
बढ़ी बाढ़-जल सरित-तट बूड़ि घाट मग जाय ॥ १९ ॥

करिय न निस्चय दूरि सों, बसिये कछु दिन संग ।
सागर नीलो जल दिखै, हाथ लेत सित रंग ॥ २० ॥

दाब्यो मन अभिमान बहु कैसो ऊँचो होय ।
डूबै लकरी ओदि जब तैरै झूरी सोय ॥ २१ ॥

स्वार्थी साधत काज निज फिरि नहि पूछत बात ।
आँगन आवत विहँग गन, चुनि दाना उड़ि जात ॥ २२ ॥

जे दृढ़ निज सिद्धांत मैं निज रंग सब रंग देत ।
प्रात नभहि रवि लाल करि, नील बसन हरि लेत ॥ २३ ॥

सबलनि सों घिरि निबल जन, कष्ट सहत बिन काज ।
फ्रांस जरमनी युद्ध में दुखित बिलजियम राज ॥ २४ ॥

दुख भोगत उपकार-हित, पावत सुख अनयास ।
मुनि मख रच्छ्यो राम जब, लह्यो सिया सुखरास ॥ २५ ॥

स्वारथ तजि ह्वै एक मन बनै मीत तदरूप ।
ज्यों गंगा जमुना मिली, भई तासु अनुरूप ॥ २६ ॥

मीत न त्यागत बिपति बिच, जो मतिमान सयान ।
पांडव लाछागृह जरत, कृष्ण बचायो प्रान ॥ २७ ॥

आन दोष जो दिखत भल, करत न अपनो ध्यान ।
पर-सिर मूँड़त नाउ नित, निज, हित बनत अजान ।। २८ ।।

सांत चित्त ढिग जात नहिं, क्रोध क्रोधि उमड़ाय ।
धूम चढ़त ऊँचे न नभ, सिसिर रहत घर छाय ।। २९ ।।

दुष्टन सों जो दबि चलै, अधिक दबावत जायँ ।
बानर घुड़की देत लखि, भागे काहत धाय ।। ३० ।।

बिनु समुझे हठ कहत जो सो दुख लहि पछितात ।
अड़ियल घोड़ा अड़त जब, चाबुक मारो जात ।। ३१ ।।

मरजादा के परे चलि, मिलै न आदर कोइ ।
बढ़ी अँगुरि जो पाँच सों, सुभ न कहैं, बुध सोइ ।। ३२ ।।

धर्म-मार्ग हय-सत्य चढ़ि जायँ सुजन हरि पास ।
वायुयान पै चींटिहू, पहुँचत जाय अकास ।। ३३ ।।

जौन देस की रीति जस, चलै तहाँ सो चाल ।
मरु-यात्रा निसि करत जन, दिन में होत बिहाल ।। ३४ ।।

जन-चिंता नृप दूबरो, प्रजा सहित सुख पाव ।
मुखन खात ज्वर भये जो, सब तनु रोग नसाव ।। ३५ ।।

अधिकारी अधिकार दै नृप राखै निज हाथ ।
जरब बुझब दीपक नगर, बिजुली घर हाथ ।। ३६ ।।

सत्रु होंय जो पै नहीं, तबहू सेन सजु साज ।
चाहे बरसा होय नहिं, नर घर छावत छाज ।। ३७ ।।

करै बिरोध न जग कबौं, सत्रु होय नहिं कोय ।
धार न रोकत नाव को, बहुत संग जब सोय ।। ३८ ।।

गुप्त भेद को खोलु नाहिं, हिय में मुहर लगाय ।
हवा भरी तकिया गई, छेद होत बहिराय ।। ३९ ।।

चंचल मन अविचल बनै पाय संत सतसंग ।
पारा विष तउ सुद्ध ह्वै करत रोगि कौ चंग ।। ४० ।।

संगति के गुण दोष सों, बुद्धि बिकास बिनास ।
मगह मरे पहुँचत नरक, कासी मरि कैलास ।। ४१ ।।

पाय सहारा प्रबल को, छोटो जन इतराय ।
रबिहिं धूरि धूमिल करति, पवन संग नभ छाय ।। ४२ ।।

अर्थ-संकेत

१ फुनगी = पेड़-पौधे का ऊपरी भाग, चोटी । ६. टेंट = धोती का फेंटा । **विरमत = विशेष रूप से** रमता है । ७. पुरवत = भरता, पूरा पड़ता है । ८. **सोत = सोता, चश्मा** । १७. कास = काँसा । १८. बसाय = बदबू करता है । ३७. **छाज = छाजन,** छत । ४०. चंग = चंगा ।

———

महात्मा भगवान दीन

भगवानदीन का स्थान आधुनिक नीतिकार कवियों में सर्वोच्च है। आपका जन्म अलीगढ़ जिले में ११ मई, सन् १८८४ को हुआ था। आपकी हिन्दी, अंग्रेजी के अतिरिक्त अरबी, फारसी, उर्दू में भी अच्छी गति थी। दीन जी राष्ट्रीय आन्दोलनों में कई बार जेल गए। आप 'नया हिन्द' के संपादकीय विभाग में भी कुछ दिन तक काम करते रहे। आपकी गद्य की कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं जिनमें 'जवानो' प्रमुख है। 'नीति के दोहे' नामक एक नीतिग्रंथ की भी रचना इन्होंने की है जिसमें लगभग १५०० छंद (दोहे और सोरठे) हैं। दीन जी १९३२ में अमरावती जेल में थे। इस पुस्तक के अधिकतर छंद वहीं जेल में लिखे गए थे।

दीन जी को आधुनिक युग का सबसे बड़ा नीतिकार कवि मानने के दो कारण हैं। एक तो इन्होंने संख्या में सबसे अधिक छंद (दो सतसइयों के बराबर) लिखे हैं और दूसरे मौलिकता और स्वानुभूतिपरक नीतिकाव्य सबसे अधिक इन्हीं में है। इस दृष्टि से इन्हें पूरे नीति-साहित्य में भी यदि एक अन्यतम स्थान का अधिकारी माना जाय तो अत्युक्ति न होगी।

महात्मा भगवानदीन के नीति-साहित्य का क्षेत्र बहुत व्यापक है। आपने संस्कृत तथा प्राचीन हिन्दी नीति-साहित्य की पिटी-पिटाई लकीर को छोड़कर अपना रास्ता अलग निर्धारित किया है जिसमें सामान्य नीति की बातों और सामयिक बातों दोनों का सुन्दर समन्वय है।

दु:ख को बहुत से नीति के कवियों ने अच्छा बतलाया है। भगवान दीन भी इसे अच्छा कहते हैं, किन्तु उसका कारण कुछ और देते हैं—

आपद स्वागत जोग है, स्व-पर विवेक जगाय।
भीतर बैठी शक्तियाँ, उनको दे बिकसाय॥

दीन जी की सूक्तियों की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने नीति की परंपरागत बातों को बड़ी सफलता से काटा है। यहाँ इस प्रकार के कुछ छन्दों को देख लेना अप्रासंगिक न होगा। संस्कृत नीति-साहित्य में धन की बहुत प्रशंसा की गई है। हिन्दी में भी उसी परम्परा में बहुत कुछ कहा गया है और बहुतों ने धन को विश्व में सबसे अधिक महत्त्व वाला बतलाया है। किसी ने कहा है कि सभी गुण सोने में हैं तो किसी ने कहा है कि 'टका' के बिना 'टकटकाना' पड़ता है। दीन जी इसके विरुद्ध लिखते हैं—

बरी न जिसने लक्ष्मी बंध्या समझ नितांत।
पर्णकुटी या महल में एक बराबर शांत॥

आपने अन्यत्र भी कहा है—

क्या उत्तम लोकोक्ति है धन हाथों का मैल।
धन को प्राण समझ रहे हो मनुष्य या बैल॥

प्राय: यह कहा जाता है कि संसार में जिस चीज की अधिकता होती है, उसकी अपेक्षा कम पाई जाने वाली चीजें मूल्यवान् होती हैं। दीन जी ने इसका विरोध किया है—

कंगारू हैं बहुत कम घोड़े कई करोड़ ।
क्या घोड़े के मूल्य में कंगारू है जोड़ ।।

हार से सभी दूर रहना चाहते हैं, 'जीत' प्राप्त करने का उपदेश सबने दिया है। दीन जी ने दोनों के भीतर बैठकर एक तीसरी बात कही है जो जीतने और हारने से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है—

बैरिन है वह जीत जो उद्देश्यविहीन हो ।
हमें हार से प्रीत जो होवे सिद्धान्त-हित ।।

'बुरों' की सभी ने निन्दा की है, पर दीन जी उनके महत्त्व को स्वीकार करते हुए लिखते हैं—

बुरे न हों तो भलों का कुछ न रहे उपयोग ।

इसी प्रकार बड़े-छोटे का निर्धारण आप अत्यन्त कठिन बतलाते हैं—

बड़ा कौन कहना कठिन, सरल नहीं यह बात ।
एक दृष्टि से दिन बड़ा, एक दृष्टि से रात ।।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, दीन जी ने आज के समय को देखते हुए बहुत से दोहे कहे हैं जो बड़े ही अनुभवपूर्ण तथा सत्य हैं। आज के युग ने यह स्पष्ट दिखला दिया है कि 'श्रम' बहुत महत्त्वपूर्ण है। अब तो 'श्रम-दान' का महत्त्व इतना बड़ा है कि श्रम-दान सप्ताह भी मनाया जाता रहा है और उसमें बड़े से बड़े लोग भी मजदूर की तरह भाग लेते रहे हैं। दीन जी ने आज से सत्तर-अस्सी वर्ष पूर्व ही इसका अनुभव करते हुए लिखा था—

श्रम से बढ़ कर कर्म, कर्म और पावन नहीं ।
यही धर्म का कर्म, पूजा गुरु श्रुति देव यह ।।

आज हम लोग पुस्तकीय ज्ञान के पीछे इतने पागल हैं कि कर्म भूल गए हैं और इसका दुष्परिणाम आज के शिक्षितों को भली-भाँति भुगतना पड़ रहा है। इसीलिए दीन जी ने कहा है—

उपादेय वह ज्ञान है जो सिखलाये कर्म ।
जो अकर्म का पाठ दे वह सब हेय अधर्म ।।

बेकारी भी आज के युग का अभिशाप है—

बेकारी सबसे बुरी निपट निराशा खान ।
आशा बसती कर्म में, कर्म करें विद्वान ।।

आज साहित्य के स्रष्टा सभी हैं। जिसे देखिए पुस्तकें लिख रहा है। दीन जी के दो छन्द इस सम्बन्ध मे द्रष्टव्य हैं—

भीतर बाहर तिमिर जो, रहा हमारे छाय ।
वही सत्य साहित्य रवि, जो दे इसे हटाय ।।

तथा

इस पुस्तक से दो चरण, उस पुस्तक से चार ।
ऐसी जीवन में लिखूं पुस्तक कई हजार ।।
पर या अनुभव सिद्ध हो या हो मौलिक बात ।
जीवन में इक कठिन है कर मेहनत दिन रात ।।

दंड के सम्बन्ध में दीन जी कितनी पते की बात कहते हैं—

खोता दंड महत्त्व है दिया जा चुका जो जिसे।
शासन का यह तत्त्व, दंड न दे जब तक बने ॥

दीन जी का यह कथन बीसवीं सदी के प्रथम और द्वितीय चरणों में ब्रिटिश शासन द्वारा देशप्रेमियों को दिए गए दंडों की प्रत्यक्षानुभूति पर आधारित है।

आज नेताओं की भी बाढ़ है। दीन ने कसौटी रखी है—

औरों का मन जीत कर हारा समझे आप।
वह नेता नेता नहीं सत्य प्रजा का बाप ॥

आज के युग में लोग अपनी प्रसिद्धि किसी भी प्रकार करना चाहते हैं, पर दीन जी का कहना है—

मुख प्रसिद्धि का रोकते कर्मठ और सुजान।
नहीं नम्रता यह निरी किंतु कर्म कल्यान ॥

सच्चाई के साथ काम करने को ही दीन जी ने पूजा-आराधना माना है—

कमर झुका कर नम्र हो जब मैं करता काम।
पीठ ठोकता सा लगे मुझको मेरा राम ॥

इस प्रकार भगवान दीन की बातें बहुत ही युगानुकूल तथा प्रायः मौलिक हैं। इन पर इनके अपने धर्म (जैन) तथा गांधीवाद का प्रभाव पड़ा है।

इनकी भाषा खड़ीबोली है, पर उसमें ब्रज के रूपों का भी छन्द की आवश्यकता के अनुकूल प्रयोग किया गया है। शैली की दृष्टि से इनमें प्रमुखतः दो रूप मिलते हैं। कभी तो ये अपनी बात बिना उदाहरण या दृष्टान्त आदि के सीधे उपदेशात्मक या व्यंग्यात्मक शैली में कहते हैं और कभी नीति-काव्योचित अलंकारों के सुन्दर प्रयोग या अनूठेपन के द्वारा सूक्ति रूप में। कहना न होगा कि दूसरी शैली अधिक काव्योचित है। यों इन्होंने प्रथम शैली का प्रयोग अधिक किया है।

यहाँ 'नीति के दोहे' से कुछ छन्द दिए जा रहे हैं—

बैरिन है वह जीत जो उद्देश्य विहीन हो।
हमें हार से प्रीति, जो होवे सिद्धांत हित ॥ १ ॥

बरी न जिसने लक्ष्मी बंध्या समझ नितांत।
पर्णकुटी या महल में एक बराबर शांत ॥ २ ॥

हिंसा द्वारा न्याय होता है अन्याय युत।
न्याय कहीं अन्याय, वह प्रतिहिंसा बीज है ॥ ३ ॥

भला कहो किस राम का, अन्न वस्त्र भंडार।
भूखे नंगे जब खड़े दीन तुम्हारे द्वार ॥ ४ ॥

आपद स्वागत जोग है, स्व-पर विवेक जगाय।
भीतर बैठी शक्तियाँ उनको दे बिकसाय ॥ ५ ॥

श्रम से बढ़कर कर्म, कर्म और पावन नहीं।
यही धर्म का कर्म, पूजा गुरु श्रुति देव यह ॥ ६ ॥

मस्तक मन अरु आपदा, जो पावे ये तीन।
ईश मिले या स्वयं ही, ईश बनेगा 'दीन' ॥ ७ ॥

सीखो आज्ञा मानना, शासन की यह भूल।
वही सेव्य होकर रहे, जो सेवक अनुकूल ॥ ८ ॥

औरों का मन जीतकर हारा समझे आप।
वह नेता नेता नहीं, सत्य प्रजा का बाप ॥ ९ ॥

बदला मैं लेता अवश यदि नहिं आता क्रोध।
एक ऋषी के शब्द ये सुन्दर सुगढ़ सुबोध ॥ १० ॥

कर्त्तव्याकर्त्तव्य का भीतर होता युद्ध।
जिता देय कर्त्तव्य को वह साहित्य विशुद्ध ॥ ११ ॥

दाल रोटियाँ खाय नित, रोज किसे बतलायँ।
बीस बार सबसे कहें जिस दिन खीर उड़ाय ॥ १२ ॥

मुख प्रसिद्धि का रोकते कर्मठ और सुजान।
नहीं नम्रता यह निरी, किन्तु कर्म कल्यान ॥ १३ ॥

बेकारी सबसे बुरी निपट निराशा खान।
आशा बसती कर्म में कर्म करें विद्वान ॥ १४ ॥

प्राण जाय नहिं बचन पर, यह भारत की रीति।
रीति न टूटे क्या करे हुई प्राण से प्रीति ॥ १५ ॥

दुखदाई है बड़प्पन, दुखदाई है मान।
'मैं हूँ' दुख दाई महा, सुखदा कर्म महान ॥ १६ ॥

पेट हमारा आत्मा, पेट हमारा राम।
पेट हमारा धर्म है, पेट हेतु सब काम ॥ १७ ॥

कमर झुका कर नम्र हो, जब मैं करता काम।
पीठ ठोंकता सा लगे, मुझको मेरा राम ॥ १८ ॥

बदला लेते इसलिए, रिपु को देंय जताय।
यही कि हम हैं जानते, क्या न्यायान्याय ॥ १९ ॥

समय सूद शासन सदा, लेते रहते प्रान।
जीवन में एक बार ही, मृत्यु हड़पती प्रान ॥ २० ॥

भीतर बाहर तिमिर जो, रहा हमारे छाय।
वही सत्य साहित्य-रवि, जो दे इसे हटाय ॥ २१ ॥

कविता बिन रहते सदा भाषण तत्त्व प्रधान।
सद्य दुग्ध स्वादिष्ट कब होता खीर समान ॥ २२ ॥
जाने अपने आप को, इस धुन में कइ लाख।
लगे, न पाए जान कुछ, हुए अन्त में राख ॥ २३ ॥
लोहा चमके घिसे से लकड़ी रगड़े आग।
सोना चमके ताप से श्रम से चमके भाग ॥ २४ ॥
उपादेय वह ज्ञान है, जो सिखलाए कर्म।
जो अकर्म का पाठ दे, वह सब हेय अधर्म ॥ २५ ॥

श्रम से उपजा ज्ञान उपादेय होता सदा।
ज्ञान नहीं अज्ञान पड़े पड़े जो प्राप्त हो ॥ २६ ॥

श्रम का फल तो काम है, अनुभव आतम ग्यान।
धन जो रूँगे में मिले, धन पर क्यों फिर ध्यान ॥ २७ ॥

बड़ा कौन कहना कठिन, सरल नहीं यह बात।
एक दृष्टि से दिन बड़ा, एक दृष्टि से रात ॥ २८ ॥

भला कौन, क्या अरु बुरा कौन-कौन व्यवहार।
यह आया तो पा गए, सब धर्मों का सार ॥ २९ ॥

द्वेष बुराई से करो, करो बुरे से राग।
भरो भलाई से बुरे, डाल बुराई आग ॥ ३० ॥

जिसके भीतर चेत, क्या उसको समझाउँ मैं।
जो है निपट अचेत, कैसे समझाऊँ उसे ॥ ३१ ॥

धर्म तत्त्व इक रत्न है, निहित उदधि साहित्य।
गोता बिन पाओ नहीं रहो तैरते नित्य ॥ ३२ ॥

बुरे न हों तो भलों का कुछ न रहे उपयोग।
भले न हों तो आपही बुरे भले हैं लोग ॥ ३३ ॥

उलझाया है ज्ञान ने सुलझा था, संसार।
सुलझाएगा ज्ञान ही उलझन से खा हार ॥ ३४ ॥

मिले देर से दण्ड अन्यायी को किए का।
समझो दंड प्रचण्ड है अभीष्ट जगदीश का ॥ ३५ ॥

बोया एक बबूल आम लगायो एक ने।
चुभे एक के शूल, एक चखे स्वादिष्ट रस ॥ ३६ ॥

क्या उत्तम लोकोक्ति है, धन हाथों का मैल।
धन को प्राण समझ रहे, हो मनुष्य या बैल ॥ ३७ ॥

शब्द 'दिखावा' कह रहा, नित्य पुकार पुकार।
मैं हूँ देखे छुवे का, है मुझमें नहि सार ॥ ३८ ॥

नहीं मृत्यु का डर जिसे, जिसे न धन की चाह।
फिर उसकी भगवान भी, क्या रोकेंगे राह ॥ ३९ ॥

ईश्वर को गाली दिए, मनुज न ईश कहाय।
इंजन काट मनुष्य सौ, नहीं मनुज बन जाय ॥ ४० ॥

जाय न छोटी बात हित, पुत्र बाप के पास।
क्यों रक्खें हम ईश से, बात बात में आस ॥ ४१ ॥

चोटी से एड़ी तलक, बहा पसीना संत।
बनते हैं, सोकर कोई, होता नहीं महंत ॥ ४२ ॥

किसे मृत्यु का डर नहीं, किसे न धन की चाह।
जिसे आतमा का पता, लगा जो उसकी राह ॥ ४३ ॥

छिन में तू बैरी बने, छन में बनता मित्र।
मन तेरी कैसे सुने, तू तो वस्तु विचित्र ॥ ४४ ॥

खोता दंड महत्त्व, दिया जा चुका जो जिसे।
शासन का यह तत्त्व, दंड न दे जब तक बने ॥ ४५ ॥

ऐंठ रहा है, बल नहीं, ढोला है, बलवान।
बहुत बोलता मूर्ख है, चुप बैठा विद्वान ॥ ८४ ॥

होते पढ़े अनेक हैं, होते सुने अनेक।
पढ़े सुने जैसे कभी, साधू मिले न एक ॥ ८५ ॥

प्रजा न झपकी लेय जब, सो न सके सरकार।
प्रजा नींद में मस्त जब, सोवे पाँव पसार ॥ ८६ ॥

है बनावटी बड़प्पन, टीम टाम का नाम।
धोखा देना और को, यह है उसका काम ॥ ८७ ॥

अर्थ-संकेत

१७. मैं हूँ=अहं । २८. रूँगा=घलुवा । ५२. दूसरों के पिछलगुओं पर व्यंग्य है।

— —

हरदीन त्रिपाठी

इनका जन्म सुल्तानपुर जिले में दोस्तपुर में हुआ था। त्रिपाठी जी का कविता-काल १९वीं सदी का प्रथम चरण है। इनके द्वारा लिखित १०८ कुंडलियों का संग्रह 'सामान्य नीतिकाव्य' शीर्षक से प्रकाशित हो चुका है। इनके प्रमुख नीति-विषय शोभा, उपकार, दान, सुख, जाति, धन, समय, नौकरी, विद्या, स्त्री, प्रजा मित्र आदि हैं। इनके कुछ ही छंद अच्छे बन पड़े हैं। उक्त संग्रह से कुछ छंद दिए जा रहे हैं—

मोती ! जौ लौं सिंधु में रहै सीप में बन्द।
तौलों ताको देखिके कौन लहै आनन्द॥
कौन लहै आनन्द कौन तोकों पहिचानै।
अज्ञानी जलजीव नहीं तेरो गुण जानै॥
दीन कहै निज जन्म ठौर नहि सोभा होती।
सिंधु सीप को छाँड़ि भूप सिर सोहै मोती॥ १॥

स्वाती ! तू निज बूँद की डारु देखिकै ठौर।
सीप कस्तुरा में पड़े मुक्ता ह्वै शिर मौर॥
मुक्ता ह्वै शिर मौर लहै शोभा जग भारी।
अहि मुख में बिष होइ जगत को जो भयकारी॥
दीन कहै का तोहि नहीं सूझै दिन राती।
देखि सुपात्र कुपात्र बूँद तब डारै स्वाती॥ २॥

ताको ब्राह्मण जानिये जो षटकर्मन लीन।
वेद पढ़ै अरु मख करै दान देइ लखि दीन॥
दान देइ लखि दीन द्विजन को वेद पढ़ावै।
द्विज को यज्ञ कराय दान लै कर्म चलावै॥
दीन कहै उर दया-धर्म से पूरित जाको।
होवै ऋषिसंतान श्रेष्ठ द्विज मानिय ताको॥ ३॥

क्षत्री ताको जनिये जो सहि युद्धकलेश।
करै प्रजा की पालना रक्षित राखै देश॥
रक्षित राखै देश शस्त्रधारी बलवाना।
वेद पढ़ै मख करै देइ ब्राह्मण को दाना॥
दीन कहै जो लोभविवश ह्वै बनै न खत्री।
संकट से द्विज-धेनु बचावै सोई क्षत्री॥ ४॥

सो है वैश्य सुजान जो करै कृषी-व्यापार।
और करै पशुपालना धन को देइ उधार॥
धन को देइ उधार ब्याज हूँ थोड़ो लेवै।
वेद पढ़ै मख करै दान ब्राह्मण को देवै॥
दीन कहै धन धर्म कर्म में त्यागत जो है।
मन्दिर, कूप, तड़ाग, बाटिका, जाके सोहै॥ ५॥

सोई शूद्र सुजान है जो तजि के अभिमान ।
करि प्रणाम द्विज वृन्द को सदा करै सन्मान ।।
सदा करै सन्मान वर्ण तीनों को सेवै ।
सुख दे भोजन वस्त्र-आदि तिनही सों लेवै ।।
दीन कहै यह वेदवाक्य सुनि चिढ़ै न कोई ।
जो मानै यह वचन शूद्र साँचो है सोई ।। ६ ।।

कौवा भक्ष्याभक्ष्य को राखत नहीं विवेक ।
हंस सदा मुक्ता चुगै राखि आपुनी टेक ।।
राखि आपुनी टेक नीर-छीरहि बिलगावै ।
सहित बिचार-अचार बड़ाई जग में पावै ।।
दीन कहै करि चेत देखु मानुष ! सब खौवा ।
खावै भक्ष्याभक्ष्य नीच कहवावै कौवा ।। ७ ।।

जो आवै पद सीस पै करि भारी अभिमान ।
कहै तुम्हारो आज लौं बहुत सह्यो अपमान ।।
बहुत सह्यो अपमान आइ अब मेरी बारी ।
होय भुजा में शक्ति देहु तौ मोकों टारी ।।
दीन कहै मुख कौन भाँति वाकों समुझावै ।
कैसे चलै शरीर पैर सिर पै जो आवै ।। ८ ।।

जाके पैसा पास में सोइ कुलीन गुणवान ।
करैं सदा राजा-प्रजा ताही को सन्मान ।।
ताही को सन्मान करैं सब लोग-लुगाई ।
जो पैसा से हीन ताहि दें दूर हटाई ।।
दीन कहै अब ऊँच नीच में अंतर कैसा ।
पावै आसन ऊँच पास में जाके पैसा ।। ९ ।।

बोल्यो बूढ़ो बाप कुढ़ि सुनहु पुत्र मन बात ।
आज आप बाबू बनें मोको देखि घिनात ।।
मोको देखि घिनात जौन हम द्रव्य कमावा ।
तुम्हरी फीस किताब आदि में सकल गँवावा ।।
दीन कहै तब आज आप यह आफिस खोल्यो ।
राखहु भारत धर्म बाप बेटा सों बोल्यो ।। १० ।।

जाके भोजन करन को अन्न नहीं घर माँहि ।
पहिरि कोट पलून को तेऊ ऐंठे जाहिं ।।
तेऊ ऐंठे जाहिं बूट की खटक सुनावैं ।
राखि माथ में बाल मांग में तेल लगावैं ।
दीन कहै केहि भाँति रहै घर संपति ताके ।
भावै जाहि बनाव नहीं विद्याबल जाके ।। ११ ।।

ऐसो राजा चाहिये जैसो देव दिनेश ।
जासु उदय सज्जन सुखी दुर्जन लहैं कलेश ।।
दुर्जन लहैं कलेश तेज से जल-कर लेवै ।
तासों करि जलवृष्टि प्रजा को सम्पति देवै ।।
दीन कहै धन लेइ नहीं नृप अपने काजा ।
करै प्रजा प्रतिपाल चाहिये ऐसो राजा ।। १२ ।।

सच्चो मित्र मिल्यो नहीं ढूँढ़ि फिरेउँ संसार ।
यों तो बहुतेरो मिले निज स्वारथ के यार ।।
निज स्वारथ के यार मिले आदर दिखलाई ।
कुशल प्रश्न करि लपकि हाथ से हाथ मिलाई ।।
दीन कहै जब लई परिक्षा निकसे काँचे ।
नगर मित्रपुर मिल्यो मित्र पाये नहिं साँचे ।। १३ ।।

आज उजाला है जहाँ तहाँ प्रथम थी राति ।
इस असार संसार का चक्र फिरै यहि भाँति ।।
चक्र फिरै यहि भाँति ऊँच को नीचे लावै ।
जो था नीचे पड़ा ताहि ऊँचे पहुँचावै ।।
दीन कहै यह नियम कबहुँ टरिहै नहिं टाला ।
तहाँ होइ फिर राति जहाँ है आज उजाला ।। १४ ।।

एकै मानुष कर्म शुभ कीन्हे पूजो जाइ ।
सोई करै कुकर्म तो चोट लात की खाइ ।।
चोट लात की खाय पकड़ि बन्दोगृह आवै ।
सहै कलेश अनेक दण्ड प्राणहु को पावै ।।
दीन कहै यह कर्मशक्ति ताको है छेंकै ।
पावै पूजा दण्ड कर्म से पूरुष एकै ।। १५ ।।

एकै वायु चलै जबै मलयाचल के पास ।
तो लगि के श्रीखंड से जग को देत सुबास ।।
जग को देत सुबास अशुचि थल में जब जावै ।
दुष्ट गन्ध से युक्त लोक को चित्त दुखावै ।।
दीन कहै यह संगशक्ति ताकों को छेंकै ।
लहै सुबुद्धि कुबुद्धि संग से मानुष एकै ।। १६ ।।

अर्थ-संकेत

१६. श्रीखंड—चंदन ।

प्रकीर्णक

[१]

कृपण कहै रे मीत मज्झु घरि नारि सतावै ।
जात चालि धणु खरचि कहै जो मोह न भावै ।
तिहि कारण दुब्बलौ रयण दिन भूख न लागै ।
मीत मरणु आइयौ मुज्झु आँखौं तू आगै ।

ता कृपण कहै रे कृपण सुणि, मीत न कर मन माहिं दुखु ।
पीहरि पठाइ दै पापिणी, ज्यों तोकों दिल होइ सुखु ।।

— ठाकुरसी (र० का० १६वीं सदी प्रथम चरण, 'कृपणचरित्र' से)

[२]

साधु जन नो संग जो करिये, चढ़े ते चौगुणो रंग रे ।
साकट[1] जनन तो संग न करिये, पड़े भजन में भंग रे ।। १ ।।

जग में जीवणा थोड़ा, राम कुण कह रे जंजार ।
कइरे खाइयो, कइ रे खरचियो, कइ रे कियो उपकार ।
दिया लिया तेरे संग चलेगा, और नहीं तेरी लार[2] ।। २ ।।

करम गति टारे नाहिं टरे ।
सतबादी हरिचंद से राजा नीच घर नीर भरे ।
पाँच पांडु अरु द्रौपदी, हाड़ हिमालै गरे ।। ३ ।।

—(मीराँबाई १६वीं सदी)

[३]

देखो करनी कमल की, कीनों जल सों हेत ।
प्रान तज्यो प्रेम न तज्यो, सूख्यो सरहिं समेत ।। १ ।।
दीपक पीर न जानई, पावक परत पतंग ।
तनु तो तिहि ज्वाला जर्‌यो, चित न भयो रस भंग ।। २ ।।
बेद पुरान स्मृति सबै, सुर नर सेवत जाहि ।
महामूढ़ अज्ञान मति, क्यों न सँभारत ताहि ।। ३ ।।
सीप गयो मुक्ता भयो, कदली भयो कपूर ।
अहिफन गयो तो विष भयो संगति को फल 'सूर' ।। ४ ।।

तन अभिमान जासु नसि जाई । सो नर रहे सदा सुख पाई ।।
और जो ऐसी जानै नाहिं । रहे सो सदा काल भय माहिं ।।
अरु भोजन सो इहि विधि करै । आधौ उदर अन्न सौं भरै ।।

आधे में जलवायु समावै । तब तिहि आलस कबहुँ न आवै ।।
सुत कलत्र दुर्वचन जो भाषैं । तिन्हें मोहबस मन नहिं राखै ।।

---

१. साकट=शाक्त । २. हिस्से में ।

जो वै वचन और कोउ कहै । तिन को सुनि के सहि नहिं रहै ।।
पुत्र अन्याइ करै बहुतेरे । पिता एक अवगुन नहिं हेरै ।। ५ ।।

मो सों बात सुनहु ब्रज नारी ।
इक उपखान[1] चलत त्रिभुवन में, तुम सों कहौं उधारी ।।
कबहूँ बालक मुँह न दाजिए, मुँह न दीजिए नारी ।
जोइ मन करै साइ करि डारैं, मूँड चढ़त हैं भारी ।। ६ ।।

जा दिन संत पाहुने आवत ।
तीरथ कोटि सनान करें फल जैसा दरसन पावत ।। ७ ।।

जग में जीवत ही कौ नातौ ।
मैं मेरी कबहूँ नहिं कीजै, कीजै पंच सुहातौ[2] ।।

साँच-झूठ करि माया जोरी, आपुन रूखो खातौ ।
'सूरदास' कछु थिर न रहैगो, जो आयो सो जातौ ।। ८ ।।

मिथ्या यह संसार और मिथ्या यह माया ।
मिथ्या है यह देह कहौ क्यौं हरि बिसराया ।। ९ ।।

माया नटी लकुटि कर लीन्हे, कोटिक नाच नचावै ।
दर-दर लोभ लाग लिये डोलति, नाना स्वाँग बनावै ।।
महा मोहनी मोहि आत्मा अपमारगहि लगावै ।
ज्यों दूती परवधू भोरि कै लै पर पुरुष दिखावै ।।
सुन्दर नारि ताहि बिवाहै, असन-बसन बहुविधि सो चाहै ।
बिना भाग सो कहाँ तैं आवै, तब वह मन में बहु दुख पावै ।। १० ।।

बिरध[3] अरु बिन भाग हूँ[4] कौ, पतित जौ पति होइ ।
जऊ मूरख होइ रोगी तजै नाहीं जोइ ।। ११ ।।

तजि भरतारु औरु जो भजियै, सो कुलीन नहिं कोई ।
मरैं नरक, जीवत या जग मैं, भलो कहै नहिं कोई ।। १२ ।।

भावी काहू सौं न टरै ।
कहँ वह राहु कहाँ वै रवि ससि आनि संजोग परै ।।
मुनि बसिष्ठ पंडित अति ज्ञानी, रवि-पचि लगन धरै ।
तात-मरन सिय-हरन राम बन वपु धरि बिपति परै ।।
हरिचंद सो को जग दाता सो घर नीच भरै ।
'सूरदास' प्रभु रची सु ह्वै है को करि सोच मरै ।। १२ ।।

ऊधो, मन माने की बात ।
दाख छुहारा छाँड़ि अमृत फल बिसकीरा बिस खात ।
'सूरदास' जा को मन जासों सोई ताहि सुहात ।। १३ ।।

—सूरदास (र० का० १६वीं सदी)

---

१. उपखान=कथा । २. पंच को जो अच्छा लगे । ३. बिरध=वृद्ध । ४. बिन भाग=अभाग ।

[४]

जाको जस है जगत में जगत सराहै जाहि ।
ताको जीवन सफल है, कहत 'अकब्बर' साहि ॥

—अकबर (१५४२-१६०६)

[५]

समझ बिचारे बोलना समझ बिचारे चाल ।
समझ बिचारे जागना, समझ बिचारे ख्याल ॥ १ ॥

यौ तां सतसंग तुझ कहा, कुसंग कहूँ भयभीत ।
स्वाति पड़े जो सरपमुख करता जहर अतीत ।
सील संतोष बिबेक बुध दया धर्म इक तार ।
बिन निहचै पावै नहीं साहब का दीदार ॥ २ ॥

—गरीबदास (१५७५-१६३६ ई०)

[६]

भीतरि भारिउ पाप मल मूढ़ा करहिं सनाणु[1] ।
जे मल लागा चित्त महिं, ते किम जाहि सनाणु ।

—मुनि महानंदिदेव (र० का० १६०० ई० के लगभग)

[७]

चेतन चित परिचय बिना, जप तप सबै निरत्थ[2] ।
कन बिन तुस[3] जिमि फटकतैं, आवे कछू न हत्थ ॥
चेतन सौं परिचय नहीं कहा भये ब्रत धारि ।
सालि[4] बिहूनै खेत की वृथा बनावत वारि ॥

—रूपचंद जैन (र०का० १६०० ई० के लगभग)

[८]

समय जु सीत बितीत, बृथा बस्तर बहु पाये ।
षीन छुधा घटि गई, वृथा पंचामृत षाये ॥
वृथा सुरत संभोग, रजनि कहु अंति, सुकिज्जय ।
वृथा सलिल सीतल सुबास, बिन तृषा जु पीजइ ॥
चातक कपोत जलचर मुए वृथा मेघ जल बहु आयो ।
सो दानु वृथा 'छीहल' कहइ जो दीजइ अवसर गयो ॥

— छीहल ('छीहल बावनी' से)

[९]

हरि हीरा गुरु जौहरी 'व्यासहिं' दियौ बताय ।
तन मन आनन्द सुख मिलै नाम लेत दुख जाय ॥ १ ॥

'व्यास' दीनता पारसै नहिं जानत जग अंध ।
दीन भये तें मिलत है दीनबन्धु से बन्ध ॥ २ ॥

१. सनाणु = स्नान । २. निरत्थ = व्यर्थ । ३. तुस = भूसी । ४. सालि = धान ।

'व्यास' बचन मीठे कहै, खरबूजा की भाँति ।
ऊपर देखौ एक सौ, भीतर तीन्यों पाँति ॥ ३ ॥

'व्यास' बड़ाई जगत की, कूकर की पहिचानि ।
प्यार करे मुख चाटई, बैर करे तन हानि ॥ ४ ॥

मुख मीठी बातैं कहै, हिरदै निपट कठोर ।
'व्यास' कहौ क्यों पाय है, नागर नंदकिसोर ॥ ५ ॥

'व्यास' बड़ाई और की, मेरे मन धिक्कार ।
रसिकन की गारी भली यह मेरौ सिंगार ॥ ६ ॥

'व्यास' न कथनी काम की, करनी है इकसार ।
भक्ति बिना पंडित वृथा, ज्यों खर चंदन भार ॥ ७ ॥

नारि नागिनी बाघनी, ना कीजै विश्वास ।
जो वाकी संगत करै, अंत जु होय बिनास ॥ ८ ॥

'व्यास' पराई कामिनी कारी नागिन जान ।
सूँघत ही मर जायगो, गरुड़ मंत्र नहिं मान ॥ ९ ॥

'व्यास' पराई कामिनी लहसनि[1] कैसी बानि ।
भीतर खाई चोरि के बाहिर प्रकटी आनि ॥ १० ॥

'व्यास' स्वपच बहु तरि गए एक नाम लवलीन ।
चढ़े नाव अभिमान की बूड़े कोटि कुलीन ॥ ११ ॥

साकत[2] सगौ न भेटिये इंद्र कुबेर समान ।
सुन्दर गनिका गुन भरी परसत तनु की हान ॥ १२ ॥

साकत-बामन जिन मिलौ, वैष्णव मिलि चंडाल ।
जाहि मिलै सुख पाइये, मनो मिले गोपाल ॥ १३ ॥

—व्यास (जन्म १५१०)

[१०]

सतगुरु चुँबक रूप है, सिष्य सुई संसार ।
अचल चलैं उनके मिलैं या में फेर न फार ॥ १ ॥

बिरही साबत विरह में, बिरह बिना मर जाय ।
ज्यूँ चूने का काँकरा[3] रज्जब जल मिल जाय ॥ २ ॥

भली कहत मानस बुरी, यहै प्रकृति है नीच ।
रज्जब कोठो गार[4] को, ज्यों धोवै त्यों कीच ॥ ३ ॥

साधु सबूरी स्वान की लीजै करि सबिबेक ।
वे घर बैठा एक कै, तू घर घर फिरहि अनेक ॥ ४ ॥

वेद सुवाणो कूप जल, दुख सूँ प्रापति होइ ।
सबद साखि सरवर सलिल, सुख पीवै सब कोइ ॥ ५ ॥

'रज्जब' कायर कामिनी, रही विपत के संग ।
सती चली सरि चढ़न कूँ, पहर पटंबर अंग ॥ ६ ॥

---

१. लहसनि = लहसुन । २. साकत = शाक्त । ३. कंकर । ४. मिट्टी की कोठी ।

मार चलो जो सतगुरु देहि, फेरि बदल औरै करि लेहि ।
ज्यों माटी कूँ कुटै कुँभार, त्यूँ सतगुरु की मार विचार ॥ ७ ॥

जैसा लोहा घड़े लुहार, कूटि-काटि करि लेवे सार ।
त्यूँ रज्जब सतगुरु का खेल, ताते सभी मार सब झेल ॥ ८ ॥

चींटी दस चौके में मारैं, घुण दस हांडी माहीं ।
चाकी चूल्हैं जीव मारैं जो, सो समुझौं कछु नाहीं ॥ ९ ॥

— रज्जब (१५६७ ई० के लगभग)

[११]

विप्र न नेगी कीजिये, मूढ़ न कीजे मित्त ।
प्रभु न कृतघ्नी सेइये, दूषण सहित कवित्त ॥ १ ॥

बाहन कुचाली, चोर चाकर, चपल चित्त, मित्र मतिहीन, सूम स्वामी उर आनिये ।
परबस भोजन, निवास बास कूकुरन, बरषा, प्रवास, केसोदास दुखदानि ये ॥
पापिन के अंग सग, अंगना अनंग बस, अपजस युत सुत, चित्त हित हानि ये ।
मूढ़ता, बुढाई, व्याधि, दारिद, झुठाई, आधि, यहई नरक नरलोकनि बखानिये ॥ १ ॥

धिक मंगन गुनहि गुन सु धिक सुनत न रीझिय ।
रीझ सुधिक बिन मौज धिक देत सु खीझिय ॥
दीबो धिक बिन साँच, साँच धिक धर्म न भावै ।
धर्म सुधिक बिना दया, दया धिक अरि कहँ आवै ॥
अरि धिक चित न सालई, चित धिक जहँ न उदार मति ।
मति धिक केशव ज्ञान बिनु, ज्ञान सु धिक बिनु हरिभगति ॥ २ ॥

पाप की सिद्धि सदा ऋन बृद्धि सु कीरति आपनी आप कही की ।
दुःख को दान जु सूतक न्हान जुदासी की संतति संतत फीकी ॥
बेटी को भोजन, भूषन राँड़ को, केसव प्रीति सदा परतीयकी[1] ।
जुद्ध में लाज दया अरि को अरु ब्राह्मण जाति सों जीति न नीकी ॥ ३ ॥

पतिनी पति बिनु दीन अति, पति पतिनी बिनु मंद ।
चंद बिना ज्यों जामिनी, ज्यों बिन जामिन चंद ॥ ४ ॥

दास होय पुत्र होय शिष्य होय कोइ भाइ ।
सासना न मानई तो कोटि जन्म नर्क जाइ ॥ ५ ॥

जो सुत अपने बाप कौ, बैर न लेइ प्रकास ।
वासों जीवत ही मर्‌यौ, लोग कहैं तजि आस ॥ ६ ॥

नारी तजै न आपनो सपनेहू भरतार ।
पंगु गुंग बौरा बधिर अंध अनाथ अपार ॥
अंध अनाथ अपार बृद्ध बावन अतिरोगी ।
बालक पंडु कुरूप सदा कुवचन जड़ जोगी ॥
कलही कोढ़ी भीरु चोर ज्वारी व्यभिचारी ।
अधम अभागी कुटिल कुमति पति तजै न नारी ॥ ७ ॥

१. खंडित करे ।

द्विज माँगै सो देय, विप्र कौ वचन ने खंगिय[1] ।
द्विज बोलै सो करिय, विप्र कौ मान न भंगिय ।।
परमेश्वर अरु विप्र, एक सम जानि सु लिज्जिय ।
विप्र-वैर नहि करिय, विप्र कहुँ सर्वसु दिज्जिय ।।
सुनि रतन सेन मधुशाह सुव, विप्र बोल किन लिज्जियहु ।
कहि 'केशव' तन मन वचन करि, विप्र कहय सोइ किज्जियहु ।। ८ ।।

पतिहि गएँ मति जाय, गएँ मति मान गैर जिय ।
मान गरै गुन गरै, गरै गुन लाज जरै जिय ।।
लाज जरै जस भजै, भजे जस धरम जाइ सब ।
धरम गए सब करम, करम गए पाप बसै तब ।।
पाप बसे नरकन परै, नरकन 'केशव' को सहै ।
यह जानि देहुँ सरबसु तुम्हैं, सुपीठ दएँ पति न रहै ।। ९ ।।

—केशवदास (जन्म १५५५ ई० के लगभग)

[१२]

दंपति सुख और विषय रस, पूजा निष्ठा ध्यान ।
इन तें परे बखानिये, सुद्ध प्रेम 'रसखान' ।। १ ।।

इक अंगी बिनु कारनहि, इक रस सदा समान ।
गने प्रियहि सर्वस्व जो, सोई प्रेम प्रमान ।। २ ।।

मित्र कलत्र सुबंधु सुत, इनमें सहज सनेह ।
सुद्ध प्रेम इन में नहीं अकथ कथा सविसेह[2] ।। ३ ।।

दो मन इक होते सुन्यो, पैवह प्रेम न आहि ।
होइ जबै द्वै तनहुँ इक, सोई प्रेम कहाहि ।। ४ ।।

लोकबेद-मरजाद सब लाज काज संदेह ।
देत बहाय प्रेम करि, बिधि निषेध को नेह ।। ५ ।।

—रसखान (१५८३-१६२८ ई०)

[१३]

दादू दीया है भला, दिया करो सब कोय ।
घर में धरा न पाइये, जो कर दिया न होय ।। १ ।।

नारी नागनि एक सी, बाघणि बड़ी बलाइ ।
दादू जे नर रत भये, तिनका सरबस खाय ।। २ ।।

कहि कहि मेरी जीभरहि, सुणि सुणि तेरे कान ।
सतगुरु बपुरा क्या करै, जो चेला मूढ़ अजान ।। ३ ।।

जहाँ राम तहँ मैं नहीं मैं तहँ नाहीं राम ।
दादू महल बारीक है, द्वै को नाहीं ठाम ।। ४ ।।

सुख का साथी जगत सब, दुख का नाहीं कोइ ।
दुख का साथी साइयाँ, दादू सतगुरु होइ ।। ५ ।।

---

१. खंडित करै । २. सविशेष ।

केते पारिख पचि मुये, कीमति कही न जाइ ।
दादू सब हैरान हैं, गूँगे का गुड़ खाइ ॥ ६ ॥

क्या मुँह ले हँसि बोलिये, दादू दीजै रोइ ।
जनम अमोलक आपणा, चलै अकारथ खोइ ॥ ७ ॥

जिहि घर निंदा साधु की, सो घर गये समूल ।
तिनकी नींव न पाइये, नाँव न ठाँव न धूल ॥ ८ ॥

दोनों भाई हाथ-पग, दोनों भाई कान ।
दोनों भाई नैन हैं, हिन्दू मूसलमान ॥ ९ ॥

काल कनक अरु कामिनी, परिहरि इन का संग ।
दादू सब जग जलि मुवा, ज्यों दीपक ज्योति पतंग ॥ १० ॥

निंदक बपुरा जिनि मरै, पर उपगारी सोइ ।
हम कूँ करता ऊजला, आपण मैला होइ ॥ ११ ॥

दादू कीड़ा नर्क का, राख्या चंदन माँहि ।
उलटि अपूठा[1] नरक में, चंदन भावै नाँहि ॥

—दादूदयाल (१५४४-१६०३ ई०)

[१४]

गंग कठौती माँझ है जो मन चंगा होय ।
जो मन चंगा होइ अविद्या संग निवारे ।
श्री गुरु के उपदेश हृदय हरिपद दृढ़ धारे ।
बातन ही के दीप तिमिर कहुँ जातन देखो ।
जलप्रवाह पर चित्र कहो कौने अवरेखो ।
'अग्र' भरम कहि मनकथा करी भरोस न कोइ ।
गंग कठौती माँझ है जो मन चंगा होइ ।

—अग्रदास (र० का० १६वीं सदी उत्तरार्द्ध)

[१५]

गुन को न पूछे कोऊ, औगुन की बात पूछै,
कहा भयो दइ कलियुग यों खरानो है ।
पोथी और पुरान ज्ञान, ठट्ठन में डारि देत,
चुगुल चबाइन को मान ठहरानो है ।
कादिर कहत या सों कछू कहिबे की नाँहि,
जगत की रीति देखि चुप मन मानो है ।
खोलि देखौ हियो सब ओरन सों भाँति-भाँति,
गुन ना हेरानो गुन गाहक हेरानो है ।

—कादिरबख्स (र० का० १६वीं सदी उत्तरार्द्ध)

[१६]

कारण गुण नहिं कोय, औगुण ही भरियो अनँत ।
हिक संपति घर होय, नमैं सकल जग 'नाथिया' ॥ १ ॥

---

१. अपूठा=गया ।

घड़ियौ सोब्रन घाट, जडियौ घट जवाहर सूं ।
बिण गुण को हर बाट, नीर न निकसै 'नाथिया' ।। २ ।।

लरका रषिये हटक[1] मैं, नांहि चाढ़िये सीस ।
नित प्रति लाड लडाइयै बिगरत बिसवा बीस ।
बिगरत बिसवा बीस, हाथ हुनर न पावै ।
सोभत सभा न बीच, ऊँच पद कबहुँ न पावै ।
कहत 'नाथ' कवि बात, होत वह बिगरे सर का ।
कोर जतन हूँ किये फेर सुधरत नहिं लरका ।। ३ ।।

—नाथूराम (जन्म १७०० ई० के लगभग)

[१७]

जिनरंग मीठी गरज[2] है, और न मीठी कोय ।
जब निकसे है सीतला, रासभ[3] आदर होय ।। १ ।।

जिनरंग रोटी-मित्र को दीजै रोटी घीउ ।
वचन-मित्र को वचन दे, जीउ-मित्र को जीउ ।। २ ।।

ससनेही बंधन परै निसनेही को मोष ।
सिर के कच को बाँधियै, नेह धर्‌याँ का दोष ।। ३ ।।

साष रह्‌याँ लाषाँ गयाँ, फिर कर लाषाँ होय ।
लाष रह्याँ साषाँ गया, लाष न लष्षै कोय ।। ४ ।।

—जिनरंग सूरि (जी० का० १७०० के आसपास)

[१८]

बड़े नाम ते का भयो, काज बड़ो नहिं होत ।
कहै अरक सब आक हूँ, पै नहिं होत उदोत ।
दानो दुसमन हू भलो, बुरो मीत नादान ।
अहितहु में हित सुझ, लें जड़कों हित प्रान ।
—दयाराम (दयाराम सतसई से, रचना-काल १८५१ई०)

---

१. डाँट । २. स्वार्थ । ३. रासभ = गदहा ।